मैं इनसे मिला

मैं इनसे मिला

: हिन्दी के कुछ प्रमुख साहित्य-सेवियों के इण्टरव्यू :

(दूसरी किस्त)

लेखक

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

१९५२

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
रामाकृष्णा प्रेस
कटरा नील, दिल्ली

बम्बई-हिन्दी विद्यापीठ के संस्थापक

हिन्दी-भाषा और साहित्य के साधकों के लिए

सर्वस्व न्योछावर करने वाले

और जीवन के प्रति अत्यन्त

उदार तथा सुसंस्कृत दृष्टि रखकर

मुझ-जैसे अनेक तरुणों को

प्रोत्साहन देने वाले

भाई भानुकुमार जैन को

सादर

भूमिका

'मैं इनसे मिला' की पहली किस्त में मैं अपने इण्टरव्यू-सम्बन्धी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर चुका हूँ इसलिए यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना उचित नहीं जान पड़ता। यहाँ तो मैं उन बातों की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, जिनका समावेश मैंने इस किस्त में, पहली किस्त के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में हुई आलोचनाओं और विद्वानों द्वारा भेजी गई सम्मतियों को दृष्टि में रखकर किया है।

पहली किस्त के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह कही गई है कि कुछ भेंटों में समान प्रश्न होने के कारण एकरसता आ गई है। इसकी कुछ सफ़ाई मैंने पहली किस्त के दृष्टिकोण में दी थी और कहा था कि मेरे सामने इण्टरव्यू का कोई आदर्श नहीं था इसलिए आरंभ में प्रश्न बनाकर ही इण्टरव्यू लिये गए, परन्तु पीछे चलकर स्वयं मुझे ही वह बात खटकी; इसलिए दुबारा इन्हें स्वाभाविक बनाने का यत्न किया गया। लेकिन इण्टरव्यू आदि की कठिनाई के कारण जो इण्टरव्यू दुबारा लिखे गए उनमें बिना प्रश्न बनाये लिये गए इण्टरव्यूओं की-सी स्वाभाविकता नहीं आ पाई। पहली किस्त में दी गई इस सफाई की ओर बहुत कम आलोचकों का ध्यान गया है इसलिए प्रश्नों द्वारा उत्पन्न एकरसता का लगभग सभी आलोचकों ने संकेत किया है। फिर भी मैंने उनकी आलोचनाओं से बहुत लाभ उठाया है और इस किस्त में प्रश्नों की एकरसता को दूर करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। इस किस्त में प्रश्न इण्टरव्यू लेते समय स्वयं बनते गए हैं और व्यक्ति विशेष की साहित्यिक दिशा से सम्बन्धित प्रश्नों को ही प्रधानता दी गई है। हाँ, इण्टरव्यू में मेरा प्रयत्न इण्टरव्यू देने वाले के पूरे जीवन का चित्र देने

का भी रहता है इसलिए कुछ प्रश्न अवश्य समान रहे हैं। उनको मैंने जान-बूझकर रखा है। यह मेरा प्रयोग है। देखता हूँ कि इसमें कितनी सफलता मिलती है।

इसके अतिरिक्त मुझे अनेक उपयोगी सुझाव भी दिये गए हैं। मुझे इन सुझावों से भी बड़ा बल मिला है और मैंने दूसरी किस्त के इण्टरव्यूओं में उनके अनुकूल चलने की चेष्टा भी की है। जो सुझाव मुझे मिले हैं उनमें तीन सुझाव प्रमुख हैं। सबसे पहला सुझाव 'नया जीवन' के सम्पादक श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का है, जिसमें उन्होंने इण्टरव्यू के नीचे उसकी तिथि देने की बात लिखी है ताकि यह पता चल जाय कि उक्त तिथि तक साहित्यकार के यह विचार थे। दूसरा सुझाव 'सरिता' (मासिक) दिल्ली का है, जिसमें घरेलू जीवन पर अधिक प्रकाश डालने की शुभ सम्मति दी गई है। तीसरा सुझाव बी. एन. एस. डी. कालिज कानपुर के लेक्चरार श्री देशराजसिंह का है, जिसमें उन्होंने प्रत्येक साहित्यकार की रचनाओं की विषय और सनवार सूची देने का आग्रह किया है। उनका कहना है कि इससे भविष्य में अनुसन्धान करने वालों को बड़ा लाभ होगा। मैंने इन तीनों सुझावों को सहर्ष ग्रहण कर लिया है। इण्टरव्यू लेने की तिथि इण्टरव्यू के नीचे दे दी है। घरेलू जीवन के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक जानकारी देने का यत्न किया है और अन्त में परिशिष्ट में साहित्यकारों की रचनाओं की उन्हीं के द्वारा भेजी गई प्रामाणिक सूची भी जोड़ दी है। इस प्रकार यह दूसरी किश्त पहली किश्त की अपेक्षा अधिक विस्तार और व्यापकता लिये हुए है। इतना होने पर भी यदि इसमें कोई कमी रह गई तो मैं अपनी अगली किश्तों में उसे दूर करने का प्रयत्न करूँगा।

एक बात इस सम्बन्ध में और कहनी है। वह यह है कि पहली किश्त के इण्टरव्यूओं में किसी व्यक्ति को कोई इण्टरव्यू पसंद आया है और किसी को कोई। यह तो रुचि-भिन्नता की बात है। लेकिन

निराला जी वाला इण्टरव्यू, जो इण्टरव्यू न होकर 'इम्प्रेशन' है, सभी को पसंद आया है। इसका कारण निराला जी का व्यक्तित्व है, जो उनसे मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उस बात के लिए विवश कर देता है कि वह उनके प्रति आत्मीयता का अनुभव करे। मैं यह नहीं कहता कि अन्य साहित्यकारों में महत्ता के द्योतक विशिष्ट गुणों का अभाव है, पर न जाने क्यों निराला जी के व्यक्तित्व की सफलता ने मुझे इतना अभिभूत कर दिया कि मैं उनका 'इम्प्रेशन' ही दे सका। अपनी ओर से तो मैं यह कह सकता हूँ कि मैं प्रत्येक साहित्यकार के पास उसी श्रद्धा से जाता हूँ, जिससे निराला जी के पास गया था, क्योंकि इण्टरव्यू का कार्य ही श्रद्धा का है, जिसमें अपनी व्यक्तिगत विचार-धारा को भुला देना होता है। जो अपनी विशिष्ट मान्यताओं के कारण दूसरों के विचारों के प्रति उदारता प्रदर्शित न कर सके वह इण्टरव्यू का कार्य कर ही नहीं सकता। श्रद्धावान ही किसी के जीवन के रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है। लेकिन इण्टरव्यू के अच्छे-बुरे होने की कुछ जिम्मेदारी इण्टरव्यू देने वाले की भी है। यदि वह इण्टरव्यू लेने वाले की श्रद्धा को महत्त्व न देकर उसे अपने जीवन अथवा साहित्य के सम्बन्ध में चलताऊ बातें बताता है और उसके कार्य में रुचि नहीं लेता तो इण्टरव्यू कभी अच्छा नहीं बन सकता। अब तो नहीं, लेकिन पहले ऐसा होता था कि जब मैं इण्टरव्यू लेने जाता था तब कभी-कभी इण्टरव्यू देने वालों की उदासीनता से मेरा मन कुण्ठित हो जाता था। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि लाख यत्न करने पर भी साहित्य-कार के व्यक्तित्व की सफलता या असफलता का भी इण्टरव्यू के सफल या असफल होने में बड़ा हाथ होता है और यह अस्वाभाविक नहीं है। अस्तु,

दूसरी किरण के सम्बन्ध में इससे अधिक मुझे और कुछ नहीं कहना है। इतना निवेदन अवश्य है कि यदि इसी प्रकार प्रोत्साहन और सुझाव मिलते रहे तो मैं शीघ्र ही हिन्दी के समस्त कलाकारों

के इण्टरव्यू पूरे करके इतरप्रांतीय भाषाओं के कलाकारों के इण्टरव्यू भी हिन्दी-जगत् को भेंट करने का प्रयत्न करूँगा और इस प्रकार 'सरस्वती'-सम्पादक भाई देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का वह उपयोगी सुझाव भी कार्यान्वित हो जायगा, जो उन्होंने 'मैं इनसे मिला' की पहली किस्त की आलोचना करते समय अक्तूबर' ५२ की 'सरस्वती' में दिया है।

अन्त में मैं इस किस्त के इण्टरव्यू देने वाले सभी साहित्यकारों और पहली किस्त के सम्बन्ध में सुझाव तथा सम्मतियाँ देने वाले सभी हिन्दी-प्रेमी पाठकों, विद्वान् आलोचकों और हितैषी मित्रों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और प्रार्थना करता हूं कि वे सब मेरे इस कार्य को सुचारु रूप से आगे बढ़ाने में इसी प्रकार मार्ग-निर्देश करते रहें।

गोकुलपुरा, आगरा　　　　पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

सूची

१

प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति

४ जून की बात है। दोपहर के ११ बजे होंगे। मैं दिल्ली के विख्यात हिन्दी-अंग्रेजी-पुस्तकों के प्रकाशक, आत्माराम एण्ड संस की दुकान पर बैठा था कि अचानक भाई श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने कहा —"इन्द्र जी आये हैं, चलो मिल लें।"

मैं इस बार उनसे मिलने का निश्चय करके ही दिल्ली गया था। इसलिए मैं 'सुमन' जी के साथ दुकान के पीछे के हिस्से से, जहाँ सुमनजी बैठते हैं, बाहर आया। एक साढ़े पाँच फुट लम्बा, दुबला-पतला, लगभग ६० वर्ष की उम्र का व्यक्ति जिसका सिर नंगा, बदन पर खद्दर की धोती और कुर्ता, तथा पैरों में चप्पल थीं, आत्माराम एण्ड संस के हिन्दी-विभाग के प्रबन्धक श्री भीमसेन जी से किसी पुस्तक के विषय में बात कर रहा था। उससे 'सुमन' जी ने मेरा परिचय कराते हुए बताया, "यही इन्द्र जी हैं, जिनसे तुम इण्टरव्यू के लिए मिलना चाहते थे।"

मैंने उन्हें प्रणाम किया और अपनी 'मैं इनसे मिला' नामक इण्टरव्यू की पुस्तक उन्हें भेंट करते हुए उनसे प्रार्थना की कि वे इण्टरव्यू के लिए कोई समय और दिन निश्चित कर दें तथा पुस्तक पर सम्मति भी दे दें। उस समय मेरा खयाल था कि वे दोनों कामों के लिए शीघ्र तैयार हो जायँगे, लेकिन उन्होंने

इण्टरव्यू का समय तो किसी भी दिन प्रातःकाल रखने के लिए कह दिया, पर सम्मति के लिए कहा कि मैं इस पुस्तक को देखकर ही कुछ कह सकता हूँ। उनकी इस स्पष्टवादिता से मुझे यह अनुभव हुआ कि यह व्यक्ति निःसन्देह ऐसा पत्रकार रहा होगा जो स्पष्ट मत-प्रदर्शन में कभी नहीं झिझका होगा।

उस दिन उनसे वहाँ और कोई बातचीत नहीं हुई। दो दिन बाद मैं प्रातःकाल ६-३० बजे उनके निवास-स्थान (चन्द्र-लोक, जवाहरनगर, सब्जीमण्डी रोड, दिल्ली) पर पहुँचा। पहाड़ी धीरज से पैदल गया था। आशा तो न थी कि समय से पहले पहुँच जाऊँगा पर अनदेखी जगह पर अन्दाज न होने से मैं जा पहुँचा ६-३० बजे। बड़ा संकोच हो रहा था कि समय टेलीफोन से निश्चय किया था ७ बजे का और पहुँच गया आधा घण्टा पहले। हिम्मत करके आवाज दी तो एक बालिका (जिसके विषय में पीछे मुझे इन्द्र जी ने बताया कि वह उनकी पुत्री उषा है तथा उनकी प्राइवेट सेक्रेटरी भी है) आई और उसने मुझे ले जाकर बैठक के कमरे में बिठा दिया।

उस कमरे में बैठकर मैं इन्द्र जी की प्रतीक्षा करने लगा। उनके ड्राइङ्ग-रूम में केवल एक ही महापुरुष की प्रतिमा शीशे के भीतर से झाँकती दिखाई दी और वह महापुरुष थे इन्द्र जी के यशस्वी पिता अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज। शेष कमरा बिलकुल सूना था। यदि यह बात सही है कि किसी व्यक्ति की रुचि का पता उसके कमरे की तस्वीरों से लगता है तो मैं कहूँगा कि इन्द्र जी में राष्ट्रीयता और समाज के लिए मिटने की भावना ही प्रबल होनी चाहिए।

थोड़ी देर में ही इन्द्र जी आकर कोच पर बैठ गए। उसी वेश में वे घर पर भी थे, जिसमें मैंने उन्हें आत्माराम एण्ड संस के यहाँ देखा था। शिष्टाचारवश मैंने अपने जल्दी आने की बात

कही और उनसे क्षमा माँगी तो वे बोले,, "कोई हर्ज की बात नहीं। ७ बजे का समय तो मैंने इसलिए दिया था कि मैं उस वक्त तक तैयार हो ही जाता हूँ। वैसे प्रयत्न यही रहता है कि ६-३० बजे ही दैनिक कार्यों से निवृत्त हो लूँ। आपके जल्दी आने से कोई बाधा नहीं पड़ी।"

मैंने आश्वस्त होकर और यह देखकर कि वे विचार-विनिमय के लिए तैयार हैं, उनसे पूछा—"आप तो हिन्दी के एक प्रसिद्ध पत्रकार हैं। फिर आपके नाम के साथ यह 'प्रोफेसर' की उपाधि क्यों लगी है ?"

उन्होंने कहा कि मेरे जीवन का प्रमुख धन्धा तो पत्रकारिता ही है, पर मैं पहले गुरुकुल में पढ़ाता रहा हूँ, इसलिए नाम के आगे 'प्रोफेसर' लग गया है। मैंने गुरुकुल में ७-८ वर्ष पढ़ाया है। इस प्रोफेसर बनने की भी एक कहानी है। बात यह हुई कि जब पिता जी ने गुरुकुल की स्थापना की तो मैं और मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी, (जो सन् १९१४ में राजा महेन्द्रप्रताप के साथ इंगलैंड गये थे और १९२२ में रेवोल्यूशनरी पार्टी में सम्मिलित होकर काम करते हुए कहीं लुप्त हो गए) दोनों आरम्भ में उसमें भर्ती किये गए। वहीं से हम दोनों स्नातक हुए। यह सन् १९१२ की बात है। सन् १९०० से पूर्व स्वामी जी जालन्धर में वकालत करते थे और वहीं से उर्दू में 'सद्धर्म प्रचारक' नामक अखबार निकालते थे। 'सद्धर्म प्रचारक' का प्रेस भी था। यह पत्र पीछे चलकर हिन्दी में हो गया था। गुरुकुल का काम आ पड़ने पर स्वामी जी ने प्रेस गुरुकुल को ही दे दिया था। यही नहीं, हमारे स्नातक होने के ६ महीने पहले, उन्होंने हमें बुलाकर अपनी कोठी के दान-पत्र पर भी हमसे हस्ताक्षर करा लिये थे। स्नातक होने के समय हमारे पास कुछ नहीं था। उस समय काम चुनने की बात आई तो मैंने पत्रकार बनने का इरादा प्रकट

किया। फलस्वरूप हरिश्चन्द्र जी तो गुरुकुल में अध्यापक हो गए और मैं केवल साप्ताहिक 'सद्धर्म प्रचारक' को लेकर दिल्ली आ गया, क्योंकि प्रेस गुरुकुल को दिया जा चुका था। स्वामी जी गुरुकुल में ही थे। हरिश्चन्द्र जी स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। गुरुकुल में जिन ५० मन्तव्यों पर हस्ताक्षर करने पड़ने थे उनके सम्बन्ध में मतभेद होने से उन्होंने एक वर्ष बाद ही त्याग-पत्र दे दिया। ऐसी दशा में स्वामी जी ने मुझे गुरुकुल आने का आदेश दिया। मैं हरिश्चन्द्र जी के स्थान पर चला गया और हरिश्चन्द्र जी दिल्ली आ गए। गुरुकुल में मैं तुलनात्मक धर्मशास्त्र और इतिहास पढ़ाता था।"

"उसके बाद आप पत्रकार कैसे बने?" मैंने प्रश्न किया।

उनका उत्तर था, "पत्रकारिता मेरे संस्कारों में थी। यदि यह कहूँ कि मैं पत्रकारिता के संस्कारों के साथ ही पैदा हुआ था तो अत्युक्ति न होगी। जब हम छोटे से थे तब पिता जी 'सद्धर्म प्रचारक' निकालते थे। प्रेस घर में ही था। इसका प्रभाव यह हुआ कि जब मैं ८ वर्ष का था और हरिश्चन्द्र जी १० वर्ष के थे, हम ४-४ पृष्ठ के हस्तलिखित अखबार निकाला करते थे। अलग-अलग उन्हें हम परस्पर एक दूसरे को दिया करते थे। गुरुकुल में पहुँचने पर भी हमारी वह प्रवृत्ति चलती रही। वहाँ भी दोनों दो पत्र निकालते थे, वह भी सचित्र। लेख संस्कृत और हिन्दी में रहते थे। हम दोनों भाइयों को ही पत्रकारिता का शौक था। आगे चलकर जब गुरुकुल में 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी में निकला तो हम उसमें भी लिखने लगे। तब मैं 'द' के कल्पित नाम से लिखता था। उस समय की एक मजेदार घटना मुझे याद है। हमारे एक अध्यापक थे श्री शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ। उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों पर एक भाष्य लिखा। नये विचारों से युक्त वह अपने ढंग की अनूठी चीज थी। उसके

विषय में मैंने 'इ' के नाम से 'सद्धर्म प्रचारक' में एक आलोचनात्मक लेख लिखा। पंडित जी ने लेख देखा तो क्लास में उसकी बड़ी कटु आलोचना की। उन्होंने दो सप्ताह बाद उसका जवाब दिया। मैंने फिर उनके जवाब का जवाब लिखा। यों दो-तीन लेखों में मेरी उनसे झड़प हुई। कहीं बात खुल न जाय इस डर से कुछ समय पीछे मैंने लिखना स्वयं ही बन्द कर दिया। उस विवाद से मेरा पत्रकार का दृष्टिकोण बना। तब 'सद्धर्म-प्रचारक' साप्ताहिक निकलता था। १६११ में दरबार होने के समय १५ दिन वह पत्र दैनिक भी निकला। वह मेरा दैनिक पत्र-सम्पादन का प्रथम अनुभव था।

गुरुकुल से मुझे बाहर निकलकर पत्र निकालने की प्रेरणा लोकमान्य तिलक और उनके 'केसरी' पत्र से मिली। गुरुकुल में हमें स्वाध्याय-मंडल के यशस्वी संस्थापक श्रीपाद दामोदर जी सातवलेकर चित्रकारी सिखाते थे। वे तिलक-भक्त थे। उनके प्रभाव से मेरी भी श्रद्धा तिलक महाराज और उनके पत्र 'केसरी' के प्रति हुई। १६१२ में जब दिल्ली आकर सार्वजनिक जीवन आरम्भ किया तो मैंने 'विजय' नामक पत्र निकाला। दिल्ली में उस समय 'मार्निंग पोस्ट' नाम का एक अंग्रेजी दैनिक निकलता था। जो टोड़ी पत्र 'पाइनियर' से खबरें लेकर छाप देता था। मैंने एक दैनिक राष्ट्रीय पत्र निकालने का संकल्प करके दैनिक 'विजय' का प्रकाशन आरम्भ किया।"

"लेकिन आपको एक सरकार-द्रोही पत्र 'विजय' निकालने का डिक्लेरेशन कैसे मिला?"

"इसका श्रेय श्रीमती एनी बेसेंट के साथी श्री तारिणीप्रसाद सिनहा को है। वे 'मानचेस्टर गार्जियन' के स्टाफ में रह चुके थे। गुरुकुल होकर जब वे दिल्ली आये तो मैंने उनको डिक्लेरेशन की कठिनाई बताई। वे बड़ी पहुँच के आदमी

थे। कोई काम उनके लिए असम्भव नहीं था। बोले, 'सायंकाल तक डिक्लेरेशन लेकर आऊँगा।'

यह कहकर वे कमिश्नर के यहाँ पहुँचे और उससे कहा, 'हम लोग "विजय" (जिसका अर्थ विक्टरी होना है अर्थात् आपकी विजय यानी विक्टरी) निकालना चाहते हैं।' कमिश्नर ने खुश होकर डिक्लेरेशन दे दिया और सायंकाल को वे उसे लेकर मेरे पास आये। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने खाना भी कमिश्नर के साथ ही खाया। यह तिकड़म मेरे बूते का न था। मेरा हाल तो यह है कि मैं ऐसे काम कर ही नहीं सकता। मेरे मित्र ऐसे कामों में मेरी मदद कर देते हैं।"

यहाँ उन्होंने तत्कालीन न्यूज-एजेन्सियों की हिन्दी-पत्रों के प्रति मनोवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए मुझे बताया कि जिस समय उन्होंने डिक्लेरेशन प्राप्त करके 'विजय' को निकालने का निश्चय किया तो एसोसियेटेड प्रेस के डाइरेक्टर श्री राय ने उनसे कहा—"मेरे प्यारे बच्चे, दिल्ली से हिन्दी-दैनिक निकालने की हिम्मत न करो, यहाँ उसके लिए क्षेत्र नहीं है।" उन्होंने उत्तर दिया, "पत्र तो अवश्य निकालूँगा।" इस पर राय ने कहा—लीडर तथा पायनीयर आदि से खबरें लेकर ६ महीने तक पत्र निकालो। उसके बाद न्यूज-एजेन्सी से बातें करना!"

इन्द्र जी ने राय की बात नहीं मानी और पत्र निकाल दिया। पत्र कितनी सफलता से चला, इसका विवरण इन्द्र जी के शब्दों में ही सुनिये। उन्होंने बताया, "पत्र निकला, पत्र छपता था हैंड प्रेस पर। पहले दिन ७० कापियाँ बिकीं और वह भी प्रायः हिन्दी पढ़ने वाली लड़कियों ने ही लीं। तीन महीने में उसकी बिक्री १५०० तक पहुँच गई। वह पत्र जितना छपता था सब बिक जाता था। उन्हीं दिनों महात्मा जी ने रौलट-एक्ट पर सत्याग्रह

की घोषणा कर दी और मुझे दिल्ली की सत्याग्रह-कमेटी का मंत्री बना दिया। उस समय मेरे जोश का यह हाल था कि कलम को मैंने बिलकुल बे-लगाम भगाया। 'विजय' की धूम मच गई। पहला राष्ट्रीय पत्र था, खूब बिकने लगा। उस पर सरकार की कोप-दृष्टि पड़नी ही थी, जमानत माँगी गई और सेंसरशिप लगाई गई। फलतः पत्र बन्द करना पड़ा, लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि बे-लाग निकल गया। दो साल चुप रहने के बाद उसी को नाम बदलकर मैंने 'अर्जुन' के नाम से निकाला।"

जब मैंने यह कहा कि पीछे का आपका अर्जुन अब तो 'वीर अर्जुन' के नाम से निकलता है तो वे कहने लगे, "हाँ, पीछे से अर्जुन को 'वीर अर्जुन' करना पड़ा। इसका कारण यह था कि 'अर्जुन' से और मुझसे सरकार परेशान थी। दो हजार, पाँच हजार और दस हजार तक की जमानतें हमसे माँगी गईं और हमने दीं भी। 'अर्जुन' के पाँच सम्पादक न्यूनाधिक समय के लिए जेल में रहे। १९२७ में जब मैं काश्मीर गया तो मेरे पीछे 'अर्जुन' में कुछ साम्प्रदायिक लेख छप गए जिनके कारण 'अर्जुन' के सम्पादक, प्रिण्टर और पब्लिशर पर मुकदमा चल गया। मुझे साढ़े पाँच साल की कड़ी सजा मिली जो सैशन में छः महीने की रह गई। साथ ही पत्र से पाँच हजार रुपये की जमानत भी माँगी गई। इसके पश्चात् जमानत के जब्त होने की नौबत भी आ गई। ऐसे संकट के समय हमें यह युक्ति सूझी कि क्यों न नाम बदल दिया जाय। हमने 'वीर अर्जुन' के नाम से डिक्लेरेशन दिया। सरकार ने यह सोचकर कि 'अर्जुन' का एक प्रतियोगी खड़ा होना अच्छा है, 'वीर अर्जुन' के नाम से डिक्लेरेशन दे दिया। हमने 'अर्जुन' बन्द कर दिया और 'वीर अर्जुन' चलने लगा।"

"इसका अर्थ तो यह हुआ कि आपको निरन्तर आर्थिक कष्ट भोगना पड़ा है ?" मैंने कहा ।

वे बोले, "आप ठीक कहते हैं। मैंने ३० साल की पत्रकारिता में एक पैसा भी नहीं बचाया । सब सरकार ले गई । लेकिन मुझे दुःख नहीं है। मेरी दृष्टि में पत्र सार्वजनिक सेवा के साधन-मात्र हैं, कमाने की चीज नहीं हैं। मुझे तो प्रसन्नता इसी बात की है कि मेरे प्रयत्नों ने इस बात को सिद्ध कर दिया कि दिल्ली की भूमि में हिन्दी-अखबार भी पनप सकते हैं। मेरे पत्र निकालने के बाद दिल्ली में हिन्दी-पत्रों की बाढ़ आ गई । जब मैंने दिल्ली में दैनिक पत्र निकाला था उस समय यहाँ अंग्रेजी पत्रों के अलावा हिन्दी-उर्दू का कोई पत्र न था। 'विजय' निकलने के कुछ दिन पीछे यह दशा हुई कि मुसलमान तक उसे खरीदते और दूसरों से पढ़वाकर सुनते थे।"

यहीं जब मैंने उनसे पूछा कि आपने 'वीर अर्जुन' से सम्बन्ध-विच्छेद क्यों किया तो उन्होंने कहा—"दो साल पहले यह निश्चय करके कि अब मैं पत्र के प्रबन्ध-कार्य से अलग होकर अधिक समय गुरुकुल तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में लगाऊँगा, मैंने पत्र की संचालक-संस्था श्रद्धानन्द पब्लिकेशन्स लिमिटेड के मैनेजिंग डाइरेक्टर के पद से त्याग-पत्र दे दिया था और उस स्थान पर दिल्ली के प्रसिद्ध व्यापारी लाला हंसराज गुप्त चुन लिये गए थे। उस समय यह निश्चय हुआ था कि 'वीर अर्जुन' की नीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा, वह पूर्ववत् स्वतन्त्र बनी रहेगी, किन्तु मेरी वह इच्छा पूरी न हुई। पत्र शीघ्र ही संघ के हाथों में जाकर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा। तब मैंने उससे हाथ खींच लिया और उसमें लिखना भी छोड़ दिया।

राजनीतिक पार्टी के सम्बन्ध में मेरा विश्वास है कि मनुष्य को उसका चुनाव उसी प्रकार करना चाहिए जैसे वर-वधू का

चुनाव किया जाता है। चुनाव में पहले खूब सोच-विचार कर लेना चाहिए। परन्तु एक बार चुनाव हो जाने पर जहाँ तक सम्भव हो, तलाक न होना चाहिए। मैंने राजनीति में कांग्रेस को प्रारम्भ से ही अपना लिया था और अब तक उसी में हूँ। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं कांग्रेस का गुलाम हूँ। मैं राजनीति के कार्य-क्षेत्र में कांग्रेसी परन्तु पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वतन्त्र समालोचक हूँ।"

इसी बीच बहन उषा चाय ले आई। मैं चाय पीने लगा। बातचीत का सिलसिला फिर भी जारी रहा। मैंने आज के पत्रकारों की बात छेड़ दी और कहा—"आज तो पत्रकारों की अवस्था बड़ी डावाँडोल है। कोई उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध नहीं है। यदि वे बेचारे ट्रेड यूनियन के आधार पर संगठित होते हैं तो दृढ़ स्थिति वाले या आप-जैसे मिशनरी स्प्रिट वाले पत्रकार उनका विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति में कैसे वे अपनी आत्मा के अनुसार चल सकते हैं और देश का पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं?"

इन्द्र जी इस प्रश्न पर कुछ देर तक सोचकर बोले, "आज तो पत्रकारिता में स्वतन्त्र विचारों की हत्या हो गई है। यह कला आज पूँजीपतियों की क्रीत दासी बनती जा रही है। बहुत से हिन्दी-पत्रों के सम्पादक तथा उप सम्पादक मेरे पास 'अर्जुन' में कार्य कर चुके हैं। मेरे पास काम करते हुए उन पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं था। वे सम्मति प्रकट करने में स्वतन्त्र थे। पेचीदे मामलों में भी स्वतन्त्रता से विचार व्यक्त करते थे। हम वेतन चाहे सौ ही रुपये देते थे लेकिन आत्मा नहीं खरीदते थे। तब वे मिशनरी पत्रकार थे। आज पत्रकारिता में सम्पादकों को चार सौ-पाँच सौ रुपये वेतन मिलता है, लेकिन मैं जानता हूँ कि उनमें से कइयों को परिस्थिति की परतन्त्रता खल रही है, क्योंकि उन्हें वह लिखना पड़ता है जो उनका मालिक चाहता है। पूर्व

समय के सत्य के लिए मर मिटने वाले इन सहकारी सम्पादकों की आत्मा पर आज भारी बोझ डाल दिया गया है। स्वतन्त्र पत्रकारिता बड़ी कठिन हो गई है। यदि पत्रकार के भीतर शक्ति और कौशल हो तो वह अपनी मान-रक्षा कर सकता है। लेकिन प्रलोभन इतने हैं कि यह बहुत कठिन है। कोई भी योग्य और स्वाभिमानी पत्रकार इस स्थिति में कार्य नहीं कर सकता। उसे अलग होना पड़ेगा। आपके ही यहाँ के पं० हरिशंकर शर्मा को एक बार 'आर्यमित्र' से अलग होना पड़ा था।

यदि आप चाहें कि ट्रेड यूनियन से पत्रकारों की स्वतन्त्रता की रक्षा हो जाय तो असम्भव है। ट्रेड यूनियन से आर्थिक प्रश्न तो हल हो जायगा पर मन की स्वतन्त्रता या स्वतन्त्र सम्मति के लिए वहाँ अवकाश नहीं है। पहले पत्र चलाना एक विशेष समाजोपयोगी कार्य था। आज व्यापार अथवा राजनीतिक पार्टियों का प्रचार ही पत्रों का उद्देश्य हो गया है। संचालकों को सरकार के इश्तहारों की गुलामी एक दूसरी चोट है। शक्ति के उपयोग की सबको ही चिन्ता है। त्याग कोई करना नहीं चाहता है।"

इतना कहते-कहते वह देश की वर्तमान सरकार, कांग्रेसी नेता और जनता की दशा का विश्लेषण करने लगे। उन्होंने कहा—"यदि आप आत्मा की रक्षा की बात कहें तो इसकी आवश्यकता हर क्षेत्र में है। आज राजनीतिक दृष्टि के बदलने से जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया है। जो लोग किसी दिन ५० रुपये मासिक में घर का खर्च चलाते थे वे अब १५०० रुपये में भी नहीं चला पाते। हमें बहुत से अपने साथियों का हाल मालूम है कि वे कैसे दिन काटते थे पर आज वे मिनिस्टर बनते ही एक रात में बदल गए हैं। वे लौकिकता पर इतना जोर देने लगे हैं कि आश्चर्य होता है। इस समय आवश्यकता है इस बात की कि सरकारी कर्मचारियों, मन्त्रि-मंडलों और

पत्रकारों तथा जनता सबके चरित्र का स्तर ऊँचा हो। यदि ऐसा न होगा तो यह स्वराज्य ताश के पत्तों के मकान की तरह बैठ जायगा। जो मित्र स्वराज्य से पूर्व गरीबी और त्याग के दृष्टान्त समझे जाते थे वे आज धन की हवा में उड़ते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है। यह जो निर्बलता का प्रवाह बह रहा है वह रुकना चाहिए। सब लोग यदि हवाई जहाज में ही चलने लगें और गरीब देश का रुपया उड़ाने लगें तो कल्याण कैसे होगा। 'मुद्रा-राक्षस' में लिखा है कि आचार्य चाणक्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को 'वृषल' अर्थात् शूद्र कहा करते थे। एक बार कुछ लोगों ने सम्राट् को भड़का दिया कि चाणक्य का सम्राट् को शूद्र कहना अनुचित है। चन्द्रगुप्त क्रोध में आकर चाणक्य के घर गया और देखा कि छप्पर पर पयाल और खूँटी पर लँगोट के सिवा कुछ नहीं है। उसे देखकर उसके मन में यह बात समा गई कि जो व्यक्ति साम्राज्य का निर्माण करके भी ऐसी निस्पृह अवस्था में रह सकता है उसे सम्राट् तक को शूद्र कहने से कौन रोक सकता है। हमारे स्वराज्य-निर्माता इस भारतीय उदाहरण को भूल गए हैं। आज उन्हें अपनी प्रतिष्ठा की चिन्ता है। प्रतिष्ठा क्या खाक है। हर व्यक्ति गाली देता है। यदि हमारे मन्त्री स्वेच्छा से १००० रु० में गुजारा करना मान लेते तो देश का खर्च आधा रह जाता और अमरीका से कर्ज नहीं लेना पड़ता। आज तो कर्ज लेने पर भी आमदनी से खर्च ज्यादा है।"

इस स्थिति से उबरने के उपायों के विषय में पूछने पर उन्होंने कहा—"शिक्षा, दृष्टान्त और प्रचार से ही हम स्थिति को सँभाल सकते हैं। शिक्षा में सुधार हुआ ही नहीं है और उसका होना देश की प्राथमिक आवश्यकता है। नैतिक और आचरण-सम्बन्धी बातों के प्रचार की भी आवश्यकता है। फिर सबसे बड़ी चीज है दृष्टान्त। जनता वही करेगी जो बड़े करेंगे। त्याग

ऊपर से ही शुरू होना चाहिए। बिना इसके उपदेश निरर्थक है।"

देश की वर्तमान दशा पर उनके विचारों का परिचय पा लेने पर मैंने एक व्यक्तिगत प्रश्न पूछा, "क्या तीस वर्ष की पत्रकारिता में आपको कभी प्रलोभनों का शिकार नहीं होना पड़ा ? यदि होना पड़ा तो उनसे आप कैसे बचे ?"

इस प्रश्न पर इन्द्र जी ने जो कुछ कहा वह पूँजीपतियों की मनोवृत्ति पर सर्चलाइट फेंकने वाला है। किस प्रकार पूँजीपति साम, दाम, दंड और भेद से पत्रकारों को खरीदना चाहते हैं और न खरीदे जाने पर अपने मित्रों द्वारा स्वतन्त्र पत्रों को मिटाने की चेष्टा करते हैं, ये सब बातें मुझे इन्द्र जी के द्वारा दिये गए अपने प्रश्न के उत्तर से मालूम हो गईं। उन्होंने कहा—"प्रलोभन मुझे ऐसे मिले हैं, जैसे किसी भी पत्रकार को न मिले होंगे।"

यह कहकर उन्होंने तीन दृष्टान्त इस प्रकार सुनाये—"एक बार एक करोड़पति के प्रतिनिधि ने मेरे पास आकर कहा कि सेठजी की इच्छा अपने अंग्रेजी पत्र के साथ 'अर्जुन' को मिला लेने की है। मैंने कहा कि मैं तैयार हूँ पर नीति मेरी रहेगी। इस पर सेठ जी तैयार नहीं हुए। इसी बीच सेठ जी के कारखाने में हड़ताल हो गई। हड़ताल का समाचार 'अर्जुन' में छपा। समाचार के छपते ही कारखाने के मैनेजर का टेलीफोन आया कि समाचार गलत है। यदि आप इसका प्रतिवाद नहीं छापते तो 'अर्जुन' पर मानहानि का दावा होगा। साथ ही यह भी कहा गया कि हम आपको सार्वजनिक कामों में सहायता देते रहते हैं इसलिए आपको हमारा लिहाज करना चाहिए। मैं कड़ा पड़ गया और कह दिया कि आप चाहे जो करें, मैं प्रतिवाद नहीं छापूँगा। अभियोग करेंगे तो सफाई दूँगा। रही चन्दे की बात, तो मेरा व्यक्तिगत लाभ उससे नहीं होता। वह तो सार्व-

जनिक कार्यों में जाता है। उन्होंने वकीलों से उसी समय बात-चीत की, पर केस चल नहीं सकता था और बदनामी का भी डर था। तब उन्होंने दूसरा उपाय मुझे झुकाने का सोचा। घाटा सह कर भी एक नया हिन्दी का पत्र निकालने की घोषणा कर दी। कुछ ही दिन बाद 'अर्जुन' से दो पृष्ठ ज्यादा का नया पत्र निकल गया। हमारे चार पृष्ठ थे उनके छः। जब हमने छः किये तो उन्होंने आठ कर दिए। हमने आठ किये तो उन्होंने दस कर दिए। फल यह हुआ कि हम पर कागज वाले का ४०,००० रु० का कर्ज हो गया। कई हितैषी हमारे कागज के व्यापारी जे० एन० सिंह के पास गये और 'अर्जुन' को ऋण के बदले में खरीदने की इच्छा प्रकट की। लेकिन जे० एन० सिंह कम्पनी के चेयरमैन श्री सूर्यनारायण जी ने मेरी लाज रख ली। उन्होंने उनसे साफ कह दिया कि मेरा रुपया देर से आये या जल्दी से, मिलेगा अवश्य। मुझ पर जो चार बड़े-बड़े राजनीतिक मुकदमे चलाये गए उन सबमें सरकार की ओर से रायबहादुर सूर्यनारायण ही वकील के तौर पर खड़े हुए। परन्तु मैं यह कह सकता हूँ कि मुझे उनसे कभी शिकायत नहीं हुई, क्योंकि उनका व्यवहार सदा शिष्टतापूर्ण रहा। ऐसा उदार-हृदय व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा, जो कि स्वतन्त्र पत्रकार की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए पूँजीपतियों के सरताजों का तिरस्कार कर सके। वस्तुतः जे० एन० सिंह का सूद सहित सारा ऋण कुछ समय में मैंने चुका दिया। एक दूसरा मामला भी ऐसा ही हुआ। वह धनी सज्जन भी एक हिन्दी अखबार चाहते थे और 'अर्जुन' को लेना चाहते थे। यहाँ भी नीति का प्रश्न आया और बात जहाँ-की-तहाँ रही। कुछ दिन बाद उनकी चौथी या पाँचवीं शादी होने का समाचार मिला और यह भी पता चला कि वह शादी आर्यसमाज के एक पंडित द्वारा कराई जायगी। मैं उन

दिनों सार्वदेशिक सभा का मन्त्री था। मैंने आर्य वीर दल के कप्तान को बुलाकर कहा कि ऐसी शादी से आर्यसमाज का सहयोग नहीं होना चाहिए और वह रुकनी चाहिए। विवाह-मंडप सज चुका था और तैयारी में थोड़ी ही कमी थी कि आर्यसमाज द्वारा भेजा हुआ सारा सामान वहाँ से हटवा दिया गया। इससे वह सज्जन मुझसे बहुत नाराज हो गए। फलतः दिल्ली में एक और हिन्दी दैनिक पत्र का जन्म हुआ, जिसने 'अर्जुन' को पराग्त करने का भरसक प्रयत्न किया।

तीसरा मामला भी ऐसा ही हुआ। एक स्थानीय मिल की हड़ताल का समाचार 'अर्जुन' में छपा तो मिल-मालिक की ओर से दी गई बहुत सी धमकियाँ यहाँ भी सुननी पड़ीं। मिल का गजट हमारे यहाँ छपता था। उसको उनके मैनेजर ने हमारे यहाँ से हटाने की धमकी दी। लेकिन मिल के मालिक समझदार आदमी थे, उन्होंने बाहर से लौटकर सारा मामला समझ लिया और गजट हमारे यहाँ ही छपने की आज्ञा दे दी। उनसे मेरे सम्बन्ध आज भी अच्छे हैं।

इसके अतिरिक्त 'अर्जुन' में रियासतों के समाचार बहुत छपते थे। वहाँ से तो अनेक प्रलोभन मिलते रहते थे। एक बार तो सीकर और जयपुर के झगड़े में एक सज्जन रुपयों की पगड़ी देने के लिए ले भी आये थे, जिन्हें मैंने बहुत ही विनय-पूर्वक आफिस से नीचे उतर जाने के लिए बाधित किया था।"

मैंने देखा कि इन्द्रजी को बोलते-बोलते काफी देर हो गई है। इसलिए कहा कि आज यहीं बातचीत समाप्त हो जानी चाहिए। शेष बातें कल हो जायँगी। वे इस पर राजी हो गए।

दूसरे दिन मैं फिर नियत समय पर पहुँच गया। आज मुझे उनकी तनिक भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। वे मेरे पहुँचते ही ड्राइँग-रूम में आ गए। मुझे 'सुमन' जी के यहाँ उनकी वे पुस्तिकाएँ

भी मिल गई थीं, जिनमें उनका बीमारियों से अनवरत संघर्ष करने का वर्णन है। इसलिए मैंने इसी प्रसंग पर बात छेड़नी उचित समझी। वे सार्वजनिक जीवन की भाँति निजी जीवन में भी बीमारियों से लड़ते रहे हैं और विश्वास के बल पर सफलता प्राप्त की है। इसलिए इस प्रसंग पर बात छिड़ते ही वे बोले, "मैंने कई भयंकर बीमारियाँ देखी हैं। दो साल की उम्र से मेरी माता जी मर चुकी थीं। उसके पश्चात् मुझे निमोनिया ने धर दबाया। चार साल की आयु में डबल निमोनिया हुआ। सोलह साल की आयु में प्लूरिसी का आक्रमण हुआ, छत्तीस साल की उम्र में ब्रांको निमोनिया से पीड़ित रहा। सार्वजनिक कार्य में रत रहते हुए भी इन बीमारियों का स्थायी इलाज न कराने से और इन सबके मेल से कोई छियालीस वर्ष की उम्र में गोले का दर्द नामक एक और नई बीमारी का जन्म हुआ, ज्वर भी रहने लगा। डॉक्टरों ने कह दिया कि बायाँ फेफड़ा खराब है। डॉक्टर अन्सारी ने मेरे स्वास्थ्य की परीक्षा करके सलाह दी कि जैसे एक हाथ के कटने पर दूसरे हाथ से काम करते रहते हैं, पर कम काम करते हैं, ऐसे ही एक फेफड़े से काम लो, पर कम। लेकिन मेरे लिए व्याख्यान देना और सार्वजनिक कार्य छोड़ना सम्भव नहीं था। इसलिए काम लेता रहा। दोनों फेफड़ों का एक ही से। दो-तीन बार जेल भी गया। परिणाम स्वरूप १९४२ के सत्याग्रह-अन्दोलन में अधिक बीमार हो गया। १९४४ में फिर एक साल को बीमार पड़ा। प्रारम्भ में एलोपैथिक इलाज किया। कलकत्ता से बुलाकर डॉ० विधान-चन्द्र राय को दिखाया। वैद्यक, एलोपैथिक, प्राकृतिक चिकित्सा आदि सब प्रकार के इलाज कराए, पर व्यर्थ हुए। इतना होने पर भी मैं एक क्षण को भी निराश नहीं हुआ। सौभाग्य से मुझे डॉक्टर आर० एन० बेरी-जैसा होम्योपैथिक डॉक्टर मिल गया।

मुझे रात को महीनों से नींद नहीं आती थी और बुखार रहता था। बेरी साहब के इलाज से चार दिन में ही नींद आने लगी और कुछ दिन में अच्छा भी हो गया।

तब से मैंने नियमित जीवन बिताना आरम्भ कर दिया है। मैं सभा-सोसायटियों में व्याख्यान देने से बचता हूँ, बाजार और पार्टियों के खाने से दूर रहता हूँ और उपवास तो कभी नहीं करता। उपवास करने से अंतड़ियाँ वैसे ही कमजोर हो जाती हैं जैसे तेज चलती हुई मोटर को सहसा रोकने से उसके पुर्जे खराब हो जाते हैं। पेट खराब हो तो कम खाना खाइए, पर खाइये जरूर। बिलकुल खाना न छोड़िए!"

इतना कहकर वे अपनी पत्नी श्रीमती चन्द्रवती की प्रशंसा करते हुए बोले, "*मेरे स्वास्थ्य का आधार मेरी पत्नी हैं।* वे बराबर मेरे साथ रहती हैं और यात्रा तक में अंगीठी तथा थैला साथ बाँधे रहती हैं ताकि पथ्य का खाना मिलता रहे। इस कारण मुझे कभी बाहर का खाना नहीं खाना पड़ता। रेल के डिब्बे में भी वे खाना पकाने की व्यवस्था कर लेती हैं।"

जब मैंने उनकी दिनचर्या के सम्बन्ध में पूछा तो वे कहने लगे, "मैं ४ बजे उठकर टहलने जाता हूँ। ६ बजे तक नित्यकर्म से निवृत्त होकर प्रातःकाल का नाश्ता करता हूँ। पेय ही मेरा नाश्ता होता है। पतला हलुआ मेरे नाश्ते में रहता है। अकेला दूध मुझे नहीं पचता। आधा दूध और आधी चाय ठीक रहती है। दोपहर को भोजन होता है वह भी सादा। सायंकाल को ठंडी चीज नहीं लेता। बर्फ या खटाई भी नहीं छूता। रात को फिर दलिया या दलिये की खिचड़ी। प्रातःकाल ७ बजे निश्चिन्त रूप से काम में लग जाता हूँ और डेढ़-दो घण्टे लिखता हूँ। प्रातः ६ के बाद संसद् या पत्र का कार्य करता हूँ। रात को दस बजे के बाद चाहे कुछ भी हो जागता नहीं।

८ बजे खाना खा लेता हूँ और आराम करता हूँ। कमरे में अँधेरा करके सो जाता हूँ। उस समय मित्र और परिवार के लोग भी मेरे स्वास्थ्य का ध्यान करके मुझे नहीं छेड़ते।"

नियमित लिखने की बात चलने पर मैंने उनसे पूछा, "आपने कौन-कौन सी पुस्तकें लिखी हैं?"

उन्होंने कहा—"लिखना मेरी हॉबी है। यदि मैं सार्वजनिक जीवन में आकर पत्र न निकालता तो बहुत लिखता। अब भी मैंने २४ पुस्तकें लिखी हैं। २२ साल की उम्र में नैपोलियन बोनापार्ट की जीवनी लिखी थी। उसके बाद प्रिंस बिस्मार्क और गैरीबाल्डी के जीवन-चरित्र लिखे। सन् '२७ में जेल गया तो 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' ग्रन्थ लिखा। जेल-यात्रा के परिणाम स्वरूप 'शाहआलम की आँखें', 'सरला की भाभी' (तीन भाग) 'अपराधी कौन' और 'जमींदार' ये ६ उपन्यास लिखे। पुस्तकें लिखने में मुझे बड़ा उत्साह रहता है। उस समय मुझे आर्थिक लाभ का ध्यान नहीं रहता। इसीलिए अपनी पुस्तकों में से अधिकांश को दुबारा छपाने का ध्यान ही मुझे नहीं आया। आजकल मैं 'किरातार्जुनीय' के दो-चार श्लोकों का रोज अनुवाद करता हूँ। संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद मेरी दृष्टि में हिन्दी के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। छात्रावस्था में मैं संस्कृत और हिन्दी में कविता भी करता था। एक बार आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हमारी संस्कृत-काव्य-रचना की परीक्षा भी ली थी। मेरी हिन्दी-कविताओं का संशोधन पं० श्रीधर पाठक किया करते थे। गान्धी जी की 'आश्रम-भजनावली' में प्रकाशित 'हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ' भजन मेरा ही लिखा हुआ है। लगभग ४० वर्षों से मैंने कविता करना छोड़ दिया है। मुझे अनुभव हुआ है कि मेरे लिए गद्य लिखना ही स्वाभाविक है।"

"क्या भविष्य में भी आप लिखने की सोचते हैं?" मैंने पूछा।

"अवश्य।" उन्होंने कहा—"लिखना जैसा मैं कह चुका हूँ, मेरी हॉबी है। गत वर्ष मैंने 'रघुवंश' के आधार पर हिन्दी में 'सम्राट् रघु का जीवन-चरित्र' प्रकाशित किया था। अब मैं 'किरातार्जुनीय' के आधार पर 'अर्जुन की घोर तपस्या' लिख रहा हूँ। साथ ही मैं 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त' नामक एक बड़ी पुस्तक भी लिख रहा हूँ, जो मेरी मुगल-साम्राज्य-सम्बन्धी पुस्तक के ढंग की ही होगी। ज्योतिषियों का कहना है कि मेरी आयु लगभग ६० वर्ष की होगी, इस हिसाब से अभी मैं २० वर्ष तक लिखने का कार्य कर सकूँगा।"

समय पर्याप्त हो चुका था और मुझे यह विचार तंग-सा करने लगा था कि दो दिन से एक वयोवृद्ध पत्रकार को मैं कष्ट दे रहा हूँ। पर मन यह चाहता था कि अभी और बातें करूँ। इसलिए मैंने उनसे सफल पत्रकार बनने के विषय में एक प्रश्न और किया—"आपकी दृष्टि में सफल पत्रकार कैसे बना जा सकता है?"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने बताया, "पत्रकार दो प्रकार के होते हैं। एक तो सर्व श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, महात्मा गान्धी और लोकमान्य-जैसे मिशनरी पत्रकार तथा दूसरे आर्थिक दृष्टि से सफल पत्रकार। मेरी सम्मति में पत्रकार किसी भी प्रकार के हों, सफलता उन्हीं को मिलेगी जो स्पष्ट और डाइरैक्ट लिखेंगे। अग्रलेख भी छोटा हो, एक या सवा कालम का। दो-ढाई कालम का अग्रलेख व्यर्थ है। लिखते समय पत्रकार को ग्राहक का हृदय पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पत्रकार के लिए अपनी सम्मति की स्वतन्त्रता को बचाना भी आवश्यक है, क्योंकि ग्राहक ऐसे प्रभावशाली पत्रकार का

आदर करते हैं जो निर्भीकता से सत्य का समर्थन करे। तीसरी बात यह है कि वह जो सम्मति बनाय, खूब सोच समझकर बनाय और अन्त तक उस पर दृढ़ रहे। कारण, वह जनता का सच्चा पथ-प्रदर्शक है और चंचल बुद्धि होने से वह जनता का विश्वास खो बैठेगा। चौथी बात है उसका निष्पक्ष होना। उसे किसी पार्टी का वकील नहीं बनना चाहिए। ऐसा करने से वह सन्तुलन खो देगा। और सन्तुलन खो देना मानो पत्रकार की सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। विदेशों में पत्रकार का स्थान मिनिस्टरों के बराबर माना जाता है। मैं तो उसे मिनिस्टर से भी ऊँचा मानता हूँ, क्योंकि मिनिस्टर सरकार की नीति से बँधा हुआ है और सम्पादक सर्वथा स्वतन्त्र। जो पत्रकार वकील की तरह चाहे जिस पार्टी का प्रचार करने लग जाता है वह पत्रकारिता के स्तर को नीचा करता है। यदि यही होता रहा और पत्रकार की स्वतन्त्रता लुप्त हो गई तो पत्रकारिता की अन्त्येष्टि समझनी चाहिए। मेरी सम्मति में सफल पत्रकार वही हो सकता है जो निर्लोभी और तपस्वी हो। इसलिए यह तपस्या ही सफलता का मूलाधार है।"

अचानक मेरी दृष्टि घड़ी की ओर चली गई। ६ बज रहे थे। मुझे उनकी दिनचर्या का ध्यान आ गया। मैंने अपनी बात-चीत बन्द कर दी। दो दिन की बातचीत में इन्द्रजी ने राज-नैतिक और पत्रकार-जीवन की अनेक ऐसी घटनाएँ बताईं जो उनके चरित्र की महत्ता पर प्रकाश ही नहीं डालतीं बल्कि तत्कालीन भारतीय जीवन से भी उनका गहरा सम्बन्ध है। उनमें से दो घटनाएँ ऐसी हैं, जिनको मैं कभी नहीं भूल सकता। एक तो इन्द्र जी की एक डिप्टी कमिश्नर से मुठभेड़ से सम्बन्धित है जिसमें अनेक मित्रों के समझाने पर भी वे उसकी कोठी पर मिलने नहीं गये और अपना सिर ऊँचा रखा, क्योंकि उन्होंने

अंग्रेजों के पास न जाने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। दूसरी घटना का सम्बन्ध कांग्रेस से मतभेद हो जाने से है। इन्द्र जी निरपेक्ष अहिंसा में विश्वास नहीं रखते और अत्याचारी व आक्रमणकारी का सशस्त्र प्रतिकार करना अपना धर्म समझते हैं, लेकिन कांग्रेस की सदस्यता में पूरी अहिंसा की शर्त थी। एक बार कांग्रेस के फार्म पर हस्ताक्षर करते हुए इन्द्र जी ने फार्म पर यह टिप्पणी दे दी कि अपराधी को दंड देने या आततायी के सशस्त्र प्रतिरोध करने को मैं हिंसा या पाप नहीं मानता। यह मामला गान्धी जी तक पहुँचा। गान्धी जी ने दिल्ली-कांग्रेस-कमेटी के अध्यक्ष को लिखा कि यदि इन्द्र का मतभेद केवल इतना ही है तो वह कांग्रेस का सदस्य रह सकता है, क्योंकि ऐसा मतभेद तो बहुत से कांग्रेसियों का है। यह व्यवस्था आने पर इन्द्र जी ने फार्म पर हस्ताक्षर कर दिए और अपना मतभेद लिखित रूप से प्रकट कर दिया।

मैंने ऐसा अनुभव किया कि इन्द्र जी यदि अपने जीवन के अनुभवों को लिखें तो राजनीतिक तथा पत्रकार-जीवन के विषय में अनेक उपयोगी बातें प्रकाश में आ सकती हैं। उनके संस्मरण बड़े काम के होंगे। मैंने तो उनसे चलती बार ऐसी प्रार्थना की है और उन्होंने विश्वास भी दिलाया है। हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब इन्द्र जी के संस्मरण हिन्दी-जगत् को पढ़ने को मिलेंगे।

जून १९५२]

श्री रायकृष्णदास

अक्तूबर १९५१ की तीसरी तारीख थी। मैं हिन्दी-विद्यापीठ देवघर के आचार्य श्री ठाकुरप्रसादसिंह और काशी के तरुण-पत्रकार तथा पुरातत्त्वज्ञ श्री परमेश्वरीलाल गुप्त के साथ राय साहब (श्री रायकृष्णदास जी को 'राय साहब' के नाम से ही पुकारा जाता है) से इण्टरव्यू का समय निश्चित करने गया। उस समय प्रातःकाल के ९ बजे थे। राय साहब अपनी कोठी के बाहर के कमरे में बैठे नाश्ता कर रहे थे। राय साहब को जन्म से नाश्ते व चाय-पानी की आदत नहीं है। सदैव वह दो अहार पर रहे हैं, किन्तु अगली पीढ़ी के संग-दोष से कभी-कभी नाश्ता कर लेते हैं।

हम लोगों ने नमस्कार किया। उन्होंने बैठने का संकेत किया। हम लोग कमरे में ही तख्त पर बैठ गए। कमरे में जो तख्त पड़ा है वह फुट-डेढ़ फुट ऊँचा होगा। उससे सारा कमरा घिरा है। केवल थोड़ी सी जगह आने जाने को रह गई है। कमरे की दीवार में जो अलमारी है उनमें कुछ पुस्तकें हैं, और पत्र-पत्रिकाएँ भी। पुस्तकों में श्रीमद्भागवत् के साथ कुछ धार्मिक ग्रन्थ भी हैं।

नाश्ता करने के बाद वे हमारी ओर मुड़े। श्री परमेश्वरी-

लाल गुप्त ने मेरा परिचय कराया और आने का उद्देश्य भी बताया। मैं अपने कार्य के सम्बन्ध में उन्हें पहले ही लिख चुका था इसलिए राय साहब ने दूसरे दिन ८ बजे का समय निश्चित कर दिया। इसके बाद उन्होंने हम लोगों से थोड़ी देर की छुट्टी लेकर कुछ कागज की चिटें उठाईं और लिखने लग गए—सम्भवतः वह अधूरा लेख था जिसमें कुछ ही लिखना शेष था। उसे शीघ्र समाप्त करके उन्होंने श्री ठाकुरप्रसादसिंह जी से राजनीतिक चर्चा छेड़ दी। बनारस शहर और देहात में उन दिनों चुनाव में सोशलिस्ट पार्टी का बहुत जोर था। श्री ठाकुरप्रसादसिंह जी ने अन्य पार्टियों के साथ सोशलिस्ट पार्टी की सबल स्थिति के सम्बन्ध में उनको कुछ बातें बताईं। राय साहब सहसा कहने लगे, "मैं तो बुरे-से-बुरे कांग्रेसी को किसी पार्टी के अच्छे-से-अच्छे आदमी से ऊँचा समझता हूँ।" और इतना कहकर वे राजनीतिक परिस्थिति का विवेचन करने लगे।

उसी समय प्रयाग का साप्ताहिक 'संगम' आया। 'संगम' के प्रसंग में हिन्दी की वर्तमान पत्र-पत्रिकाओं की खरी और निष्पक्ष आलोचना करते हुए राय साहब ने सभी प्रमुख पत्रों के विषय में अपना मत दिया। मुझे आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति दिन-भर चित्रों और मूर्तियों के संग्रह में लगा रहता है, उसे इन सब बातों के लिए समय कहाँ से मिलता है। उनकी बातचीत बड़ी गम्भीर और स्पष्ट होती है। वे बिना किसी झिझक के अपना मत प्रकट करते हैं। ऐसा करते हुए भले ही किसी व्यक्ति की निन्दा क्यों न हो जाय।

उस दिन ग्यारह बजे के लगभग हम लोग उनसे विदा लेकर चले आए।

दूसरे दिन मैं अकेला निश्चित समय पर पहुँचा और चुपचाप कमरे में जाकर तख्त पर बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनका रुख

देखकर मैंने पूछा, "आप-जैसे सम्पन्न परिवार के व्यक्ति को साहित्य और कला से इतना प्रेम कैसे हो गया कि सब-कुछ खोकर इन्हीं के हो रहे। अधिकांश सम्पन्न व्यक्ति साहित्य को शौक की वस्तु बना लेते हैं पर उसके लिए फकीर नहीं बन पाते। इसका क्या कारण है ?"

वे बोले, "आपकी धारणा ही ठीक नहीं है। मेरा परिवार बुद्धिजीवी होने के कारण सम्पन्न हुआ है, धन के कारण नहीं। मेरे पूर्वज मुगल काल में अकबर के समय से ही अच्छे-अच्छे पदों पर थे। उन पदों पर वे बुद्धि के ही कारण थे। यद्यपि उनका इतिहास कुहासे में है तथापि इतना कह सकता हूँ कि शाह आलम ने हमारे पूर्वजों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मुकाबले के लिए अपना वकील बनाया था। यह सन् १७६०-६५ की बात है। मुगलों की ओर से वे कूटनीतिज्ञ का काम करते थे। कूटनीतिज्ञता के ही कारण वे बिहार के नायब सूबेदार बनाये गए थे।"

यहाँ वे थोड़ी देर रुके और अपने पूर्वजों की भलाई-बुराई का विश्लेषण करते हुए कहने लगे, "सत्य तो पूर्वजों से भी बड़ी चीज है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हमारे पूर्वजों ने जिनका नमक खाया उन्हीं को धोखा दिया। हमारे पितामह के पितामह राजा ख्यालीराम को शाह आलम के दरबार से 'राजा' की पदवी मिली थी, लेकिन उन्होंने सोचा कि शाहआलम तो जाने वाला है अब कम्पनी का साथ देकर अपना उत्कर्ष और अभ्युदय क्यों न करें। उन्होंने क्लाइव को सहायता पहुँचाई। फल स्वरूप कम्पनी ने उन्हें बिहार का नायब सूबेदार बनाया। उनके पौत्र हमारे पितामह के पितामह भी उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में अपनी कूटनीतिज्ञता के बल पर आगे बढ़े। उन लोगों के पास खूब सम्पत्ति थी। हमारे सब घर ३०-४० लाख के थे। २०-२५ लाख के दो

बड़े घर हैं। २-४ लाख के तो कई हैं। परदादा के समय से हमारी सात शाखाएँ हैं। यदि सब सम्पत्ति अब भी मिलाई जाय तो ६०-६५ लाख होगी। यह सब सम्पत्ति बुद्धि-बल से पैदा की गई थी। वे फारसी के बड़े विद्वान् थे। सन् १८४० में जब उर्दू राज-भाषा थी, उनके पास एक लाख की लाइब्रेरी थी, जो उनके पौत्रों की मुकदमेबाजी में देख-भाल न होने के कारण नष्ट हो गई। भारतेन्दु ने इसका बड़े मर्मस्पर्शी ढंग से वर्णन किया है। इस प्रकार हम बुद्धि-बल से सम्पन्न होने वाले हैं। यदि व्यापार से सम्पन्न होने वाले होते तो हमारा और ही रूप होता।"

"तब तो आपका बचपन भी फारसी के ही वातावरण में बीता होगा।" मैंने कहा।

उन्होंने बताया, "यद्यपि हमारे यहाँ का वातावरण फारसी से सराबोर था, लेकिन अपने कुल में मैं ही ऐसा हूँ जिसका 'मकतब' नहीं हुआ। बात यह हुई कि मेरे पिता भारतेन्दु जी की बुआ के पुत्र थे। दादी के देहान्त के समय पिता जी की अवस्था नौ वर्ष की थी। मेरे पिता जी का पालन-पोषण भारतेन्दु जी के ही यहाँ हुआ, जो उनसे चार-पाँच बरस बड़े थे। भारतेन्दु जी का परिवार 'मनसा वाचा कर्मणा वैष्णव' था, जिसमें संस्कृत से भी प्रेम पर्याप्त था। मेरे पिता जी विवाह होने तक वहीं रहे। वे फारसी के पंडित थे और अरबी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। संस्कृत की ओर उनका ध्यान 'भागवत' के कारण गया। वह 'भागवत' हमारे घर की निधि थी। उसी की चर्चा बार-बार होती रहती थी। भारतेन्दुजी हमारे परिवार में छाये हुए थे। उनकी ज्योति फैली हुई थी। 'चन्द्रावली' 'सत्य हरिचन्द्र' आदि पर बातचीत होती रहती थी। उनकी पुस्तकों पर बहुधा चर्चा चलती थी। स्त्रियों में तब लल्लूलाल के प्रेम सागर, सुख सागर और भारतेन्दु की रचना के अतिरिक्त बहुत

थोड़ी रचनाओं का प्रचार था। सन् १९०० में हमारे यहाँ 'सरस्वती' आने लगी। वह हमारे चचेरे भाई रायकृष्ण जी के यहाँ पहले से ही आती थी। वहीं से मैं उससे परिचित हुआ था। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के कारण भी हिन्दी की ओर रुचि रही। जिस प्रकार श्री विनोबा भावे महात्मा गान्धी के लघु संस्करण हैं उसी प्रकार मेरे पिता जी के मौसेरे भाई राधाकृष्णदास जी भारतेन्दु जी के लघु संस्करण थे। उन्हीं के प्रत्यक्ष सम्पर्क एवं प्रेमपूर्ण प्रोत्साहन ने मुझे साहित्यिक जीवन दिया। यही कारण है कि सन् १९०१ में नौ वर्ष की अवस्था में ही खेल की तरह लिखना भी आरम्भ हो गया।"

"लेकिन आपका वास्तविक लेखन-कार्य कब से प्रारम्भ हुआ और उसकी प्रेरणा आपको कहाँ से मिली।"

"वास्तविक लेखन-कार्य सन् १९०८ या १९०९ से हुआ। सोलह वर्ष की अवस्था में एक उपन्यास भी आरम्भ किया था, जिस के ८-१० परिच्छेद लिखे गए थे, पूर्ति में केवल ४-५ परिच्छेद की आवश्यकता थी। सन १९०९ में लाला भगवानदीन की पत्रिका 'लक्ष्मी' में एक लेख लिखा। वैसे तो बाबू राधाकृष्णदास, पं० लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी (मेरे हिन्दी-अध्यापक) और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तीनों को मैं गुरु मानता हूँ, क्योंकि तीनों का ही प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा। फिर भी द्विवेदी जी ने मुझे विशेष प्रभावित किया। १९१९ से मैं नियमित रूप से लिखने लगा और सन् १९३० तक निरन्तर लिखता रहा। इस बीच पं० केदारनाथ पाठक से भी मुझे प्रेरणा मिली। ये विलक्षण पुरुष थे। बेहद प्रोत्साहन देते थे। हम इन्हें उस समय साहित्यिक हिन्दी का जीवित विश्व-कोष कहते थे। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के भी आविष्कारक वे ही थे। साहित्यिक भूलों पर वे धज्जियाँ उड़ा देते थे। उनके विषय में निम्न लिखित दोहा प्रसिद्ध था:—

रीझे सरबस देत हैं, खीझे दंड कठोर।
जस अपजस विस्तार में, राखें ओर न छोर॥

इन पाठक जी से हमारा सम्पर्क सन् १९०८ में हुआ। इन्होंने ही हमारा परिचय आचार्य द्विवेदी जी, मैथिलीशरण और नवीन जी से कराया, जिसके फलस्वरूप भाई मैथिलीशरण और उनकी मण्डली का सान्निध्य प्राप्त हुआ। प्रसाद जी से भी सन १९०६ में उन्होंने ही मिलाया।"

आगे चलकर 'साधना' की रचना का प्रसंग चला जिस पर वे बोले—"सन १९१२ की बात है। 'गीतांजलि' के अंग्रेजी अनुवाद की धूम मची हुई थी। मेरी अंग्रेजी अच्छी थी, पर व्यावहारिक मात्र अंग्रेजी 'गीतांजलि' समझने का प्रयत्न किया पर असफल रहा। पढ़ने की इच्छा तीव्र हुई। इण्डियन प्रेस से प्रकाशित नागरी अक्षरों वाला बंगला-संस्करण मँगाया, पर बंगला में गति न होने से उससे भी तृप्ति नहीं हुई। एक लड़कपन था कि बँगला पढ़ने से मेरी मौलिकता नष्ट हो जायगी और इस लड़कपन का मुझे आज तक दुःख ही है। 'गीतांजलि' पढ़ने की साध पूरी हुई सन १९१३ में, जब गुप्तजी ने कानपुर के महाशय काशीनाथ द्वारा अनूदित 'हिन्दी गीतांजलि' की एक प्रति मुझे मसूरी भेजी। उन दिनों गुप्त जी हमारे साथ कुछ दिन मसूरी रहे थे। घर लौटते हुए कानपुर से उन्होंने दो-तीन पुस्तकों के साथ ही यह 'गीतांजलि' का हिन्दी-अनुवाद भी भेजा था। इस अनुवाद की विशेषता यह थी कि भावों की रक्षा के साथ-साथ भाषा भी अनुकूल थी। यह मुझे अच्छा लगा। मुझे इसके प्रत्येक गीत के सुन्दर भावों के समानान्तर भाव सूझने लगे। मैं वैसी ही भाव-धारा में डूब गया और उस पुस्तक के पोर्सानों पर ही नोट करने लगा। इतनी सरलता, इतनी कोमलता और इतनी मधुरता थी उसमें कि मैं अगस्त' १६ से रोज १-२ वैसे ही गीत

लिखने लगा। इरादा यह था कि गद्य में लिख जाने पर पीछे इसे पद्य में बदल दिया जायगा और इस कार्य को या तो मैं या कोई और करेगा। इस प्रकार 'गीतांजलि'-जैसी चीज बन जायगी। जनवरी के महीने में जब मैथिलीशरण जी मिले तो बोले कि यह इसी रूप में प्रेस में जायगा। मैं तब ६० के लगभग गद्य-गीत लिख चुका था। मेरी दशा नशे में डूबे व्यक्ति की-सी हो गई थी। जब डेढ़ सौ के लगभग गीत हो गए तो प्रसाद जी तथा गुप्त जी की सहायता से उनमें से सौ गीत छाँटे गए और उनका नाम 'साधना' रखा गया।"

"लेकिन इनको 'गद्य-गीत' नाम कैसे दिया गया। गद्य-काव्य नाम तो हमारे यहाँ बाणभट्ट की 'कादम्बरी' से मिल जाता है और भावात्मक लम्बे गद्य को गद्य-काव्य नाम दिया जाता है, पर 'गद्य-गीत' नाम कैसे पड़ा?" मैंने पूछा

उन्होंने कहा—"सन् १६१७ में जनवरी के महीने में माता जी के (कल्पवास मावस्नान) के सम्बन्ध में प्रयाग जाना पड़ा। वहीं गुप्तजी भी आ गए। इन गद्यबद्ध भावों के विषय में बात-चीत करते हुए उनके लिए कोई व्यापक संज्ञा न होने के कारण हम लोगों को अक्सर बड़ी कठिनाई होती थी। अतएव 'गद्य-गीत' शब्द की सृष्टि हम लोगों ने वहाँ प्रयाग में की, जो गीत के छोटे रूप में इस संस्करण में प्रयुक्त हुआ है।"

ग्यारह बज गए थे। उनको आवश्यक कार्य से कला-भवन जाना था। उनकी व्यस्तता का आभास पाते ही मैंने भी बातचीत बन्द कर दी और उनसे दूसरे दिन समय देने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उसी दिन दोपहर को मुझे आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के दर्शनार्थ हिन्दू-विश्वविद्यालय जाना था। साथ ही कला-भवन को भी देखना था। इसलिए मैं एक बजे के लगभग कला-भवन

पहुँच गया। वहाँ जाकर देखा तो राय साहब कुछ पर्यटकों से किसी मूर्ति के सम्बन्ध में वार्तालाप कर रहे थे। दोलंगी खद्दर की धोती, कुर्ता और टोपी पहने यह व्यक्ति व्याख्या में पूरा डूबा हुआ था। थोड़ी देर में कला-भवन को दिखाने का भार भाई परमेश्वरीलाल गुप्त, (परमेश्वरीलाल जी आजकल कला-भवन के सहायक संग्रहाध्यक्ष और राय साहब के कार्य-सहायक हैं) को सौंपकर वे किसी काय से चले गए। मैंने उसके बाद कला-भवन को देखा और पाया कि अकेले राय साहब ने जिस नैपुण्य के साथ कलाकृतियों को जुटाया है, वह सरकारी म्युजियमों में भी दुर्लभ है। भाई परमेश्वरीलाल ने बताया कि लाखों की अपनी सम्पत्ति उन्होंने कला-कृतियों के एकत्र करने में व्यय की है। आजकल तो रात-दिन वे कला-भवन की ही चिन्ता में रत रहते हैं।

दूसरे दिन मैं फिर उनके स्थान पर पहुँचा। आज की बैठक में मैंने कल की बातचीत की शृङ्खला मिलाने के लिए उनसे प्रश्न किया – "आपने गद्य-काव्य के अतिरिक्त और धाराओं में भी तो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उस सम्बन्ध में कुछ बताने की कृपा कीजिये।"

उस पर उन्होंने कहा—"मैंने गद्यकाव्य के अतिरिक्त पद्य में केवल 'भावुक' नामक रचना दी है। उसके पश्चात् कहानियाँ लिखी हैं। वे कहानियाँ मुख्यतः भावात्मक ही हैं। अपनी कहानियों में मुझे 'सुधांशु' की कहानियाँ विशेष प्रिय हैं। सन् २२ के बाद 'आँखों की थाह' नाम का संग्रह भी तैयार किया। २६ से मैं कला-भवन के कार्य में लग गया। तब से मैं अच्छी कल्पना और इच्छा होने पर भी साहित्यिक कार्य नहीं कर पाया। जहाँ तक मेरे साहित्यिक कार्य का सम्बन्ध है, रवि बाबू ने मुझे बहुत अधिक प्रभावित किया है। रवि बाबू को मैंने मूल बंगला से नहीं, कुछ अंग्रेजी के माध्यम से और अधिकांश हिन्दी माध्यम

से ही समझा है। 'साधना' की धारा तो 'गीतांजलि' के प्रभाव की है और उसकी अभिव्यक्ति में कोई नयापन नहीं। वह रवि बाबू की ही है। हाँ 'छायापथ' में कुछ अपना मार्ग मैंने खोजा है। खलील जिब्रान के 'मैडमैन' का 'पगला' नाम से मैंने अनुवाद किया। उसका गद्य-काव्य दूसरे ही ढंग का है। भारतेन्दु जी की शैली पर 'हमीर' नाटक भी लिखा, जिसमें ५-७ दृश्यों की कमी रह गई। शरत् के प्रभाव से एक उपन्यास के नौ परिच्छेद भी लिखे। 'शाल्व' नामक महाकाव्य भी अधूरा पड़ा है। कला-भवन के कार्य ने ही इस ओर से मुझे विरत-सा रखा है, नहीं तो ये चीजें पूरी अवश्य होतीं।"

कला-भवन की बात चलने पर जब मैंने उनसे पूछा कि अकेले ही आपने इतने बड़े महत्त्व का कार्य कर डाला, इसका रहस्य क्या है? कैसे आपको चित्र और मूर्तियाँ संग्रह करने की ओर रुचि जाग्रत हुई। इस पर उन्होंने बताया, "मुझे चित्रों से स्वाभाविक प्रेम है। मुझे ही क्या प्रत्येक बच्चे को संगीत, नृत्य और चित्र से प्रेम होता है। ६ वर्ष की अवस्था से ही मैं चित्र अंकित करने लगा था। १०-११ वर्ष तक चील-बिलार बनाता रहा। पिताजी ने इसे छुड़ा दिया तो तुकबन्दी में लग गया, पर प्रेम कम नहीं हुआ। वैसे मेरे पिताजी सुरुचि-सम्पन्न और वल्लभ सम्प्रदायानुयायी वैष्णव थे। उनका 'रास पंचाध्यायी' और 'भागवत' पर सहज अनुराग था। वे उनको चित्र रूप में कराना चाहते थे। इसके लिए चित्रकारों की तलाश की गई। काम भी देखा गया। वे सहसा चल बसे। मेरी उम्र तब बारह वर्ष की थी। इस समय उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने का मन हुआ। एक चित्रकार को 'रास पंचाध्यायी' के चित्रण का कार्य दिया। उन्हीं दिनों मुझे तंत्र की एक पोथी मिली। उसमें कुछ देवताओं के ध्यान के चित्र थे। मन में आया कि यदि सभी के

ध्यान के चित्र हों तो कितना अच्छा हो। यह सोचकर इस विषय में कार्य आरम्भ भी कर दिया। यह १६०७ की बात है। उसी समय श्री काशीप्रसाद जायसवाल विलायत से बैरिस्टरी पास करके लौटे थे। उन्होंने 'इंगलैंड की राष्ट्रीय चित्रशाला की सैर' शीर्षक एक लेख लिखा। उस लेख से संग्रहालय के रूप में चित्र रखने की प्रेरणा मिली। यह विचार भी आया कि हमारे यहाँ भी चित्रशाला हो। सन १६१० में कलकत्ता में मेरी भेंट श्री अवनीन्द्र-नाथ टाकुर से हुई। उन्होंने जब मेरे चित्र संग्रह के विचार सुने तो कहा कि चित्रशाला का ऐसा रूप होना चाहिए, जिससे भार-तीय कला की रक्षा हो सके। मैंने १६१० में कला-भवन की स्थापना की। १६११ में इलाहाबाद में विशुद्ध भारतीय शैली के चित्रों की प्रदर्शनी हुई। जिसका मेरे ऊपर और भी अधिक प्रभाव पड़ा। वहाँ से लौटकर हमने संग्रह-कार्य आरम्भ कर दिया। इस प्रकार कला-भवन की नींव पड़ी।

सन् १६२० में हमने एक संगीत-सम्मेलन भी किया। हमारा विचार एक एकेडेमी स्थापित करने का था। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को हम उसका संरक्षक बनाना चाहते थे, लेकिन फिर विचार बदलकर कला-भवन की स्थिति को ही दृढ़ता देने की सोची। पीछे जिसके कवि-गुरु आजन्म सभापति रहे। पुरातत्त्व से भी हमारी स्वाभाविक रुचि है।"

दो-तीन दिन पहले मैं सारनाथ का म्युजियम भी देख आया था और एक दिन पहले कला-भवन भी। इन दोनों में मुझे कुछ चित्र और मूर्तियों ने बहुत अधिक प्रभावित किया था। लेकिन कुछ ऐसी भी वस्तुएँ थीं जिनकी विशेषता मेरी समझ में नहीं आई थी और भाई परमेश्वरीलाल गुप्त ने समझाई थीं। उस समय मुझे बिना योग्य पथ-प्रदर्शक के म्युजियम देखने वालों की स्थिति पर संताप हुआ था। न जाने कितने व्यक्ति इन संग्रहा-

लयों को देखते हैं और न जाने कितना रुपया इन पर व्यय होता है पर इनसे जितना लाभ पहुँचना चाहिए उतना नहीं पहुँचता। मेरी धारणा इस सम्बन्ध में यह बन गई है कि जब तक ऐसा कोई प्रबन्ध न हो, ये संग्रहालय बन्द कर देने चाहिएँ और अधिकारी व्यक्तियों को देखने की अनुमति होनी चाहिए। श्रीयुत रायसाहब जब कला-भवन की बात कह रहे थे तब भी मेरे मस्तिष्क में यही बातें चक्कर लगा रही थीं। मैंने अपने ये विचार उनके समक्ष रखे तो उन्होंने कहा—"आपका विचार ठीक है। इसके लिए मेरी सम्मति में प्रत्येक विश्वविद्यालय में 'फैकल्टी आफ आर्ट-क्रिटिसिज्म' की स्थापना होनी चाहिए, जिसमें इन चीजों की अनिवार्य शिक्षा दी जाय। इसके द्वारा कला के प्रति दृष्टि उत्पन्न की जाय और बचपन से ही म्यूजियम के पूर्ण चित्रों का परिचय कराया जाय। उसका महत्त्व समझाया जाय तो यह कठिनाई दूर हो सकती है। विदेश में ऐसा है भी। इससे जनता में कला का प्रचार भी होगा और सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी विस्तृत होगा।"

साहित्य और कला की चर्चा काफी लम्बी हो गई थी। रायसाहब ने जीवन इसी क्षेत्र में लगाया है, इसलिए उनके पास कहने को इतना है कि कभी समाप्त न हो और पास बैठा व्यक्ति ऊब भी न पाय। वे आकर्षक ढंग से अपनी बात कहते हैं। बात करते हुए वे विस्तार में चले जाकर या विषयान्तर करके फिर मूल विषय पर लौट आते हैं। कभी-कभी विषयान्तर में जिस प्रसंग पर बात आरम्भ हुई हो वह छूट भी जाता है। ऐसे समय चर्चा में भाग लेने वाला यदि सावधान न हो तो उसको सिलसिलेवार कोई चीज नहीं मिलेगी। हाँ, यदि वह सावधान हो तो फुटकर चीजों में ही महत्त्व की सामग्री ढूँढ लेगा। उनकी खूबी यह है कि जिधर भी वे मुड़ जाते हैं, अपने मौलिक विचार देने लगते

हैं, जो बड़े प्रभावित करते हैं। इन विचारों को जानने के बाद मैंने उनसे दैनिक जीवन और लेखन-प्रणाली के सम्बन्ध में प्रश्न किया "आप कब और कैसे लिखते हैं और आपकी दिन-चर्या क्या रहती है।"

"लिखने का मेरा कोई विशेष समय नहीं है। समय हो तो बिना बाधा के कभी भी लिखता हूँ। सवारी में, रेल में भी लिख लेता हूँ लिखते समय हल्ला-गुल्ला भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हाँ, मन को पकड़ने के लिए एकान्त की मुझे विशेष आवश्यकता होती है। पद्य-रचना के लिए तो एकान्त आवश्यक समझता हूँ।

लिखने के लिए चिटें बहुत पसन्द हैं। कभी-कभी पैपरों पर भी लिखता हूँ। कभी चिट्ठियों तक पर लिखता हूँ और तो और कलेंडरों के रद्दी कागजों पर भी लिखा है। गरज यह कि जो कागज मिल जाता है उसी पर लिखता हूँ। आचार्य द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में भी यही बात थी। यह अच्छी बात नहीं है, पर आदत का प्रश्न है। स्वयं इस आदत से परेशान हूँ। कागज नष्ट नहीं करता। कोई चीज लिखना आरम्भ करने पर उसे छोड़ देता हूँ। उस विषय में एक वाक्य कभी सूझ गया दूसरा कभी। इस प्रकार एक ही रचना के अनेक वाक्य इधर-उधर लिखे जाते हैं। बाद में उसे 'फेयर' करता हूँ। मेरे लिखने का ढंग रेलवे-जंकशन का-सा है, जहाँ एक ही कागज पर सब तरह की चीजें इकट्ठी हो जाती हैं—चारों ओर से आने वाली रेलगाड़ियों की तरह। मेरी कापी भी बड़ी खराब होती है। पेंसिल से लिखना मुझे विशेष अच्छा लगता है। मेरी बहुतेरी रचनाओं को श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने फेयर किया है। उस बुराई से बचने के लिए एक बार १०–१२ रिम मोटा कागज भी लिया पर आदत तो आदत ही है। अधूरी रचनाएँ बहुत रह जाती हैं। एक पैराग्राफ से लेकर पन्द्रह पेज तक की अधूरी कहानियाँ लगभग ५०

होंगी। सैकड़ों प्लाट नोट होंगे। यह आदत भी नहीं छूटती। व्यस्तता इसका प्रमुख कारण है।

एक और बात है कि यदि मुझे किसी की शैली पसन्द आ जाय और मैं उसे ग्रहण करना चाहूँ तो दो-चार वैसी ही कहानियाँ तथा अन्य चीजें लिख सकता हूँ। प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की कहानियों का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। रवि बाबू और शरत् का भी, पर इनके ढंग पर लिखा नहीं। इस विषय में मेरा विश्वास है कि संग्रह-बुद्धि होनी चाहिए।

दैनिक कार्यक्रम मेरा अनिश्चित-सा ही रहता है। सन् २८ से, मैं जब ३४ वर्ष का था दिन में खाना खाने के बाद एक घण्टा सोना आवश्यक हो गया है, अन्यथा तकलीफ होती है। रात को चार घण्टे की कमी पूरी करनी होती है। विशेष काम रात को ही होता है। साल में दस-पन्द्रह रातें ऐसी होती हैं, जो पूरी-पूरी जागकर बिताई जाती हैं। अब यह छोड़ दिया है। बगीचे के द्वारा सौन्दर्य-भावना की तृप्ति कर लेता हूँ।"

इस बीच रायसाहब के सुपुत्र श्री राय आनन्दकृष्ण जी भी आकर हम लोगों के पास बैठ गए थे। दुबला-पतला शरीर, उस पर खद्दर की धोती और कुर्ता, सिर पर गांधी टोपी, आँखों पर चश्मा, जिसके भीतर से चमकती हुई आँखें उनकी दृष्टि के पैनेपन का परिचय देती हैं। नपी-तुली बातचीत, एक विषय पर नहीं साहित्य के हर विषय पर और हर लेख पर, उनकी रचनाओं के उद्धरणों सहित। इस युवक की प्रतिभा ने मुझे सहसा चौंका दिया। उसकी उपस्थिति से हमारी चर्चा और भी आनन्दप्रद बन गई। राय आनन्दकृष्ण स्वयं अच्छे लेखक हैं। इसलिए बात कहानी पर ही चली। राय साहब ने आधुनिक कहानी के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए कहा—"कहानी-साहित्य की प्रगति से मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। यशपाल तगड़ा लिखते हैं। एक और श्रेष्ठ

लेखक थे जैनेन्द्र, पर उनकी कथाकार के नाते मृत्यु हो गई। कथाकारों में स्वर्गीय प्रेमचन्द श्रेष्ठ थे। उन्होंने तो अपना समस्त जीवन ही साहित्य के लिए दे दिया है। श्री भगवतीचरण वर्मा की लेखनी का भी मैं कायल हूँ। अगली और वर्तमान दोनों ही पीढ़ियों से प्रभाव डालने वाले मैं सर्वोपरि कहानीकार मानता हूँ। सियारामशरण जी का भी अपना एक खास स्थान है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य बड़ा सम्पन्न है। अब कहानी-उपन्यास का रूप बदला है। आज कहानी ने महाकाव्य को खण्डकाव्य बना दिया है, नाटक को उपन्यास बना दिया है। आज की कहानी में वर्णन का स्थान मनोविश्लेषण और भाव-विश्लेषण ने ले लिया है। प्रेमचन्द जी के वर्णन को निर्देश-युक्त कर दें तो नाटक के संवाद बन जायें। प्रेमचन्द ने बहुत लिखा है। प्रेमचन्द ने एक 'किस्सागो' की भाँति प्लाट उठाया है और कहानियाँ तथा उपन्यास पूरे हो गए हैं। इलाचन्द्र जोशी पढ़ाते बहुत हैं। बलराज साहनी, अश्क, विष्णु प्रभाकर, बेनीपुरी, राधाकृष्ण आदि के २५-३० नाम तो ऐसे हैं जिन्हें गुड सेकेंड क्लास दिया जा सकता है। अन्य भाषाओं में बंगला में रवीन्द्र और बंकिम के साथ उसका सौन्दर्य चला गया। आजकल बुद्धदेव वसु ही वहाँ श्रेष्ठ हैं। गुजराती में मुन्शी जी ने महत्त्वपूर्ण कृतियाँ दी हैं। कहानियों की दृष्टि से दक्षिण-भारत की भाषाओं की कहानियाँ अच्छी हैं। इतना होने पर भी हिन्दी की प्रगति को देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि रवीन्द्रनाथ यहाँ अवश्य पैदा होगा।"

कुछ रुककर वे हिन्दी के अभावों की चर्चा करते हुए कहने लगे, "हिन्दी के पत्रों की दशा बड़ी खराब है। लगभग सभी घाटे में चल रहे हैं और उनका स्टैंडर्ड भी गिर गया है। वैज्ञानिक साहित्य की भी कमी है। हिन्दी-उर्दू का झगड़ा भी अभी बना है। इसके लिए मेरा सुझाव यह है कि समस्त उर्दू-साहित्य

नागरी अक्षरों में छप जाय। इससे समस्या हल हो सकती है। आज भी बहुत से हिन्दी न जानने वाले हिन्दू-उर्दू द्वारा ही हिन्दू धर्म की बातें जानते हैं। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के पिता आज तक उर्दू में गीता पढ़ते हैं। एक बात और। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र-जैसे लेखकों की कमी हमारे यहाँ अब दिखाई देती है, जो अच्छी नहीं। बच्चों के लिए कोई अच्छा साहित्य बन ही नहीं रहा है। 'सेक्स हाईजीन' के लिए कुछ प्रयत्न होना तो नितान्त आवश्यक है। वैसे सब मिलाकर हिन्दी आगे बढ़ रही है और ये अभाव भी शीघ्र दूर होंगे!" यह कहकर वे चुप हो गए। मुझे बड़ा हर्ष इस बात से हुआ कि इतने व्यस्त होते हुए भी उन्होंने दो दिन ४-४ घण्टे मुझे दिये।

राय साहब पक्के वैष्णव हैं, परन्तु किसी समय यक्ष्मा के झूठे भय से डाक्टरों की सलाह से स्वास्थ्य के लिए उपयोगी समझकर मांस भी खाने लगे थे। अब मांस-भोजन के बहुत बड़े विरोधी हैं। बड़ी दृढ़ता से उन्होंने मांस खाना छोड़ा और ऐसा कि अण्डों के भय से बिस्कुट, केक या आइस-क्रीम तक नहीं खाते। वर्षों के अपने अनुभव के आधार पर वे अन्न या फल को अधिक बल-वर्द्धक मानते हैं। वे राजनीति से सदैव अलग रहते हैं। गांधीवादी ऐसे कट्टर हैं कि गांधी को अवतार मानते हैं। संभवतः इसीलिए सारे दोषों के बावजूद वे इस सरकार के बड़े समर्थक हैं।

वे साहित्य, संगीत और कला तीनों के बहुत बड़े प्रेमी हैं। उनकी सुरुचि-सम्पन्नता भी अद्भुत है। जो चुनाव वे करते हैं, सर्वोत्कृष्ट होता है। साथ ही अच्छी चीजों पर उनका ध्यान बहुत ही जल्दी चला जाता है। उनकी अच्छाई (सौन्दर्य) की विवेचना बहुत बारीक होती है। पहले उनमें क्रोध की

मात्रा अधिक थी, पर इधर उसे बिलकुल छोड़ दिया है और ऐसे क्षमाशील हो गए हैं कि आज के उनके शान्त स्वभाव की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। दृढ़ता उनमें बहुत अधिक है। विलायती कपड़ों का पहनना, भंग पीना, पान खाना, धूम्र पान आदि अनेक ऐसी वस्तुएँ जिनका प्रकृतजन के लिए छोड़ सकना बहुत कठिन अथवा असम्भव है, राय साहब ने ऐसे छोड़ दीं कि फिर उनका नाम तक नहीं लिया और जब इनका सेवन करते थे तो इतना कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। जैसे एक दिन में एक डिब्बा सिगरेट पी जाना, परन्तु सहसा जो छोड़ा तो सदा को ही छोड़ दिया। आज भी बिना दूध लिये जितनी काफी वे पी जाते हैं उसे देखकर लोग डर जाते हैं।

उनकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र अर्थात् विलक्षण है। पूरे चालीस वर्ष बाद एक बार दिल्ली की कई गलियों में से होते हुए वे अपने पूर्वजों के मकान में पहुँच गए थे। चित्रों के विषय में तो इतनी तीव्र स्मृति है कि जिस संग्रह या जिस विक्रेता के पास चित्र देखे, दस-दस बीस-बीस बरस बीत जाने पर भी आज तक उनकी याद है। उनके ब्यौरे तक बता सकते हैं। ऐसे चित्र उन्होंने कम-से-कम पचास हजार तो देखे होंगे परन्तु उनमें जितने महत्त्वपूर्ण हैं उन सबके ब्यौरे आप कभी भी पूछ सकते हैं।

भारत-कला-भवन के कार्याधिक्य के कारण वे साहित्य-क्षेत्र से धीरे-धीरे रिटायर हो रहे हैं। इस संस्था का उद्देश्य अपनी प्राचीन कलाओं और गौरव का समुचित संरक्षण है। काशी-जैसे सांस्कृतिक केन्द्र में ऐसे स्थान की सदैव आवश्यकता रहेगी, भले ही दिल्ली इस ओर कितने ही प्रयत्न क्यों न करे? आज भी भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी ही है और सदैव रहेगी। राय साहब इसी भारत की सांस्कृतिक राजधानी

में भारत-कला-भवन द्वारा भारतीय कला और संस्कृति की गरिमा और महिमा को अमरत्व देने का प्रयास कर रहे हैं। वे कला-भवन के लिए अपने को निछावर-सा कर चुके हैं। यही कारण है कि उन्हें अहर्निश उसकी चिन्ता से अवकाश नहीं मिलता। अकेला एक व्यक्ति अपनी निष्ठा से बड़े-से-बड़ा कार्य कर सकता है, इसका जीता-जागता प्रमाण राय साहब द्वारा निर्मित यह कला-भवन है।

राय साहब ऐसे व्यक्ति हैं कि यदि कोई व्यक्ति उनके साथ रहे और यदा-कदा हुई साहित्य-चर्चा का लेखा-जोखा रखे तो अनेक साहित्यिकों के विषय में ऐसी बातें पता चलें कि जिनका किसी को स्वप्न में भी ध्यान न हो। उदाहरण के लिए उनके पास गुप्त जी के कई हजार पत्र हैं जिनमें साहित्य के इतिहास की बहुमूल्य सामग्री है। भाई परमेश्वरीलाल गुप्त ने छाँटकर उनका संग्रह आरम्भ किया है। प्रकाश में आने पर वह अमूल्य देन होगी। प्रसाद जी के विषय में तो उनके संस्मरण बेजोड़ हैं ही। भगवान् से प्रार्थना है कि इस साधक को वही शक्ति और समय दे कि जिससे हिन्दी-भाषा उसकी प्रतिभा का दान प्राप्त करके धन्य हो सके।

अक्तूबर १६५१]

३

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

हंसराज कालिज नई दिल्ली के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष भाई श्री ओमप्रकाश कुलश्रेष्ठ एम० ए०, पी० एच-डी० के साथ मैं हिन्दी में विद्रोही कविता के अग्रदूत 'अलमस्त' और 'फक्कड़' कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के निवास-स्थान ५ विण्डसर प्लेस नई दिल्ली जा रहा था कि रैड स्क्वायर से बीस-पच्चीस कदम इधर अनेक मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों के सफल सम्पादक श्री बैजनाथसिंह 'विनोद' मिल गए। उनसे पता चला कि नवीन जी दिनकर जी के साथ उस समारोह में सम्मिलित होने के लिए इन्दौर गये हुए हैं, जो श्री वृन्दावनलाल वर्मा तथा हरिकृष्ण 'प्रेमी' को मध्यभारत-सरकार द्वारा मिले पुरस्कारों के उपलक्ष में हो रहा है। उन्होंने यह भी कहा कि वे आज (७ अप्रैल सन् १९५२ को) आने वाले थे। मन में कुछ निराशा हुई, पर फिर भी एक बार उनको देख लेना उचित समझा और हम तीनों उनकी कोठी में पहुँचे। पूछने पर पता चला कि रात को नौ बजे वे निश्चित रूप से आ जायँगे।

वहाँ से चलकर हम तीनों रैड स्क्वायर में आकर बैठ गए। श्री विनोद जी ने नवीन जी की मस्ती और तरुणाई के विषय में प्रशंसा करते हुए कहा—"हिन्दी में नवीन-जैसा मस्त कवि दूसरा

नहीं है। साठ वर्ष के लगभग उम्र है, पर आज भी जब उसे मैं नंगे बदन देखता हूँ तो ऐसा लगता है, जैसे पौरुष का पुञ्ज उसकी छाती में संचित कर दिया गया है। व्यक्तित्व तो इतना आकर्षक है कि व्यक्ति स्वयं उस ओर खिंचता चला जाता है। सबसे बड़ी बात है विशाल हृदयता की। इसका तो मेरा निजी अनुभव है। बेकारी और रुग्णता के इन दिनों में जब कि मेरा मस्तिष्क और शरीर साथ नहीं दे पाता मुझे नवीन जी ने नई ज़िन्दगी दी है। उनकी कविता और उनके जीवन में कहीं मुझे भेद नहीं दिखाई देता। ऐसे व्यक्ति का इण्टरव्यू लेने के लिए पर्याप्त समय अपेक्षित है और वह उनके पास है नहीं, क्योंकि राजनीति उनके सब समय को ले जाती है।"

डॉ० ओमप्रकाश जी ने भी उनके व्यक्तित्व और कवित्व की महत्ता पर अपने विचार प्रकट किये और विनोद जी की बात का समर्थन किया। दोनों ने मिलकर मुझे इण्टरव्यू के विषय में अनेक सुझाव भी दिये। मैंने उन्हें खुले हृदय से स्वीकार कर लिया। इसके बाद थोड़ी देर तक हम अन्य विषयों पर चर्चा करते रहे।

लगभग आध घण्टे बाद हम दिनकर जी के निवास-स्थान पर गये, पर वे नहीं मिले। लौटते हुए श्रमजीवी पत्रकार संघ दिल्ली के मन्त्री श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी से भेंट की और घर लौट आए।

आज का दिन मेरा व्यर्थ गया था। न तो किसी से इण्टरव्यू का समय ही निश्चित हो पाया और न कोई अन्य कार्य ही किया। मन में निराशा छा गई। नवीन जी के न मिलने का तो दुःख न था। भय इस बात का था कि वे मिलेंगे तो भी इण्टरव्यू के लिए समय नहीं मिल पायगा। यह इण्टरव्यू मुझे बड़े महँगे पड़ते हैं और इस कारण कभी-कभी जी ऊब जाता है

क्योंकि पैसा खर्च करने पर भी काम नहीं हो पाता। इस स्थिति में खिन्न मन घर पहुँचकर मैं सो गया।

दूसरे दिन शाम के पाँच बजे मैं राज कमल प्रकाशन, दिल्ली में बैठा था। अचानक मुझे नवीनजी का खयाल आ गया। फोन उठाया और नवीन जी की प्रतीक्षा करने लगा। सौभाग्य से तब वे ही फोन पर बोल रहे थे। मैंने उनसे अपना मन्तव्य कहा। उन्हें यह भी याद दिलाया कि जिस इण्टरव्यू के लिए मैं सन् '४५ में कानपुर गया था, जिसके लिए हाल में हुए ब्रज-साहित्य-मंडल के अवसर पर मैंने निवेदन किया था और जिसके लिए कल रात नई दिल्ली की सड़कों को नाप आया हूँ वह यदि अब पूरा नहीं होता तो मुझे बड़ी निराशा होगी। मैं सोच रहा था कि वे अपनी व्यस्तता की बात अवश्य कहेंगे, क्योंकि विनोदजी का ऐसा ही अनुभव था, लेकिन जब मेरी आशा के विरुद्ध उन्होंने मुझसे यह कहा कि मैं कल ८॥ बजे उनके यहाँ पहुँच जाऊँ और वे इसके लिए पार्लियामेंट भी छोड़ देंगे तो मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। हर्ष-विभोर होकर मैं कुछ देर खोया-खोया बैठा रहा। उस समय मुझे लगा कि यदि आदमी के भीतर साहित्यकार है, कवि है, तो राजनीति की हजार चुड़ैलें उसके रस को, उसकी उदारता को, उसकी परिस्थिति-अनुभव-शीलता को, उसकी आडम्बर-हीन विनम्रता को उससे नहीं छीन सकतीं। नवीन जी ऐसे ही कवि हैं, जिन्हें जीवन-भर राजनीति से पाला पड़ा है, पर चाहे वे लौह-सीखचों में बन्द रहे हों या सत्याग्रह के सिपाही, चाहे हड़तालों के संचालक रहे हों या स्थानीय राजनीतिक जीवन के कर्णधार, पत्र-सम्पादक रहे हों या विधान-सभा के सदस्य, उनका रस पूर्ववत् बना है और उम्र की मार उनके शरीर को प्रचीन बनाने का कैसा ही व्यूह रचे वे हृदय से 'नवीन' ही रहेंगे। उनसे भेंट का समय निश्चित ह

जाने से मेरे मन पर दो दिन से छाई उदासी न जाने कहाँ चली गई।

अगले दिन ठीक साढ़े आठ बजे मैं उनके यहाँ पहुँचा। आधुनिक ढंग में सुसज्जित ड्राइंग-रूम में उस समय नवीन जी दो महिलाओं से बातें कर रहे थे। देखते ही उन्होंने मुझे भीतर बुला लिया। मेरे ड्राइंग-रूम में घुसते ही एक महिला, जो सम्भवतः नवीन जी की धर्मपत्नी श्रीमती सरला शर्मा थीं, भीतर चली गईं। दूसरी महिला ने एक थैले में से अपने बाग के आम और लीची नवीन जी को भेंट किये और चरण स्पर्श करके प्रणाम सहित विदा माँगी। नवीन जी ने उसे आशीर्वाद देकर विदा किया।

महिला के चले जाने के बाद नवीनजी ने एक सिगरेट सुलगाई और मेरे पास वाली कुर्सी पर आकर बैठ गए। उस समय वे ढीला पाजामा और कुर्ता, जिस पर सिल्कन जाकट थी, पहने थे, पैरों में सावर के श्वेत पठानी चप्पल थे और सिर पर टेढ़ी गांधी टोपी, जिसमें से एक ओर से श्वेत रेशम से स्निग्ध बालों के छल्ले उनकी मुखाकृति को अद्‌भुत आकर्षणयुक्त बना रहे थे। आँखों पर चश्मा था; जिसके भीतर से रसमग्न आँखें लबालब भरे प्याले-सी छलक रही थीं। सिगरेट का कश लेते हुए उन्होंने अनुमति दी कि मैं जो-कुछ पूछना चाहूँ, पूछूँ।

उनकी अनुमति पाकर सबसे पहले मैंने उनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में कुछ जानने की जिज्ञासा प्रकट की, इस पर उन्होंने श्रीदेवव्रत शास्त्री द्वारा सम्पादित 'साहित्यकारों की आत्म-कथाएँ' नामक पुस्तक को देखने की सलाह दी, जिसमें उन्होंने अपने प्रारंभिक जीवन के विषय में कुछ प्रकाश डाला है। उसके अधार पर उनके प्रारंभिक जीवन का लेखा इस प्रकार है—"मेरा बाल्य-जीवन कैसा था, इसका मुझे अच्छी तरह पता नहीं है। कुछ धुँधली-

सी स्मृतियाँ बच रही हैं। उनके सबके आधार पर ही मैं कुछ बता सकता हूँ। मेरा जन्म ग्वालियर राज्य के शुजालपुर परगने के सयाना नामक गाँव में हुआ था। मेरी माता कहा करती थीं कि मैं गायों के बाँधने के एक बाड़े में अपने नानाजी के घर में पैदा हुआ था। वहाँ गायों ने कितने ही बछड़ों को जन्म दिया होगा। मेरी जननी ने उसी गोशाला में मुझे भी जना। मेरे पिता बहुत गरीब थे। निःसाधन, किन्तु भगवद्-भक्त ब्राह्मण। अतः मेरे जन्म के वक्त सिवा थाली बजाने के और कुछ धूमधाम न हुई। गाँव का सीधा सादा जीवन, गरीबी और अथाभाव, ये मेरे चिर परिचित मित्र हैं। मुझे याद है कि जब मैं कोई साढ़े तीन वर्ष का था तब मेरी माता मुझे गोद में लिटाकर, मीठे-मीठे विहाग के स्वरों में अष्टछाप के पदों को गाकर मुझे लोरियाँ सुनाती और सुलाया करती थीं। और याद है अपनी अच्छी माँ का वह वात्सल्यपूर्ण मुख और कम्पित कंठ-स्वर।

माँ गाती थीं

पौढ़ि रहो घनश्याम बलैयाँ लेहों पौढ़ि रहो घनश्याम।
अति श्रम भयो बन गौवें चरावत घाम परत है घाम॥
बलैया लेहों पौढ़ि रहो घनश्याम।

कुछ बड़ा होने पर मैं गाँव के लड़कों के साथ खेला करता था, मक्का और ज्वार की कड़वी लेकर घूरे पर, खेतों की मेंडों पर और जहाँ चरस चला करता था, वहाँ। खेल में मैं फिसड्डी था इसलिए कभी लवाईंन के खेल में लीडर नहीं बन सका। कुछ तो उम्र में छोटा होने और कुछ बुद्धू होने के कारण मेरी स्थिति यह थी कि जब और लड़के 'हो' करते थे तो मैं भी 'हो' कह देता था। बाकी मेरे पास अपनी निज की मौलिकता नहीं थी।

कुछ और बड़ा होने पर मेरी माता जी मुझे नाथद्वारा ले गई, जहाँ मेरे पिता श्रीमद्वल्लभाचार्य के वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारण चले गए थे। नाथद्वारे की गलियों और मंदिरों के विशाल प्रांगणों में मैं काफी दिनों तक धमा-चौकड़ी मचाता रहा। वे दिन बड़े कष्ट के थे। माता-पिता दोनों कट्टर वैष्णव थे। पिता जी को तो रात दिन सेवा-पूजा को छोड़ कोई कार्य ही नहीं था। घर का काम जो-कुछ मिल जाता था, उसी से चलता था। इसीलिए मैं आज भी अपने मित्रों से कह देता हूँ कि मेरा शरीर भिक्षान्न-पोषित है, अतः मुझे संग्रह करने का अधिकार नहीं है और इस शरीर से जो-कुछ बन पड़े, सब जन हिताय, वह होता रहे, इसी में मेरा कल्याण है। नाथद्वारे में मैं काफी दिनों रहा, लेकिन वहाँ पढ़ाई का कोई प्रबन्ध नहीं था। इसलिए मेरी दूरदर्शिनी माता जी ने पिताजी से कहा कि यहाँ लड़का आवारा हो जायगा और वे मुझे लेकर ग्वालियर राज्य के शाजापुर नामक कस्बे में चली आई। यह स्थान राज्य का एक जिला है। यहाँ जीवन के ग्यारहवें वर्ष में मेरी शिक्षा का आरम्भ हुआ।

शाजापुर में मेरे परम सौभाग्य से मुझे पिताजी के पुरातन मित्र सेठ भगवानदास जी झालानी के परिवार का आश्रय मिल गया। सेठजी के तीनों पुत्र सर्वश्री जमनादास झालानी, एम० ए०, एल-एल० बी० दामोदरदास झालानी और गोपालदास झालानी बी० ए०, बी० कॉम० विद्या-विनय-सम्पन्न सत्पुरुष हैं। इनमें पहले ग्वालियर राज्य के प्रसिद्ध वकील है। दूसरे राज्य के खजाञ्ची और तीसरे इन्दौर की राजकुमार-मिल्स के मैनेजर। इसमें से श्री दामोदरदास जी झालानी की मेरे ऊपर विशेष कृपा रही। इन्हीं की कृपा से मैं पढ़-लिख सका। वे मेरे कौमार्य और पौगंड जीवन के सखा, मार्ग-दर्शक और तत्त्वदीपक

रहे। पूज्य दामू दादा (श्री दामोदरदास जी भालानी) के साथ जीवन का जितना समय बीता, पंडित राम जी बलवन्त मितूल, स्वर्गीय पं० गोविन्द त्र्यम्बक दाते आदि बाल-मित्रों के साथ जो ऊधम मचाया वह सब जीवन के बनाने में बहुत सहायक हुआ है। खेल-कूद, पढ़ाई, रोना-गाना सभी साथ-साथ होता था। पर इसके अलावा भी जीवन की एक दिशा है। मेरे परिवार के लोग चार आने महीने के मकान में रहते थे। फिर शायद आठ आने महीने के में रहने लगे। बरसात में मकान टपकता था। रात-भर सोना दूभर था। मैं खूब खाता था। कुछ दूध की जरूरत भी महसूस होती थी पर दूध के लिए पैसे कहाँ से आयें तब माताराम ने लोगों का अनाज पीसना शुरू किया। इससे जो पैसे मिलते थे उनसे मैं दूध पीता था। पैरों में जूते पहनना आराम-तलबी समझी जाती थी, इसलिए बंदा नंगे पैरों रहता था। कपड़ों की कमी होने के कारण पैवन्द लगे कपड़े पहनना और साल में सिर्फ दो धोतियों पर गुजारा करना एक मामूली और बिलकुल स्वाभाविक बात थी। किताबें कुछ खरीदी जाती थीं और कुछ माँगकर ली जाती थीं।

शाजापुर से अंग्रेजी मिडिल पास करके मैं हाईस्कूल के लिए उज्जैन गया। वहाँ माधव कालेज में मेरी शिक्षा हुई। उज्जैन में दो मित्रों ने मेरे जीवन में प्रवेश किया। एक थे खंडवा के 'स्वराज्य'-सम्पादक श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर के छोटे भाई, जिनको मैं उनके प्यार के नाम 'सन्तू' से सम्बोधित करता था और दूसरे थे ग्वालियर राज्य के पुस्तक-व्यवसायी और स्कूलों के इन्स्पेक्टर स्व० मुन्शी चतुरविहारीलाल के सुपुत्र भाई हरिशरण, जिन्हें मैं उनको उनके घरेलू नाम 'छोटे' से पुकारता था। वे दोनों मुझे दगा देकर चले गए। उनकी याद मैं अब भी कर लेता हूँ। वह अजीब अल्हड़पन का जमाना था।

पढ़ना, खेलना, बड़ी-बड़ी तत्त्व की बातें करना और भविष्य के मनसूबे बाँधना। और कोई समस्या हमारे सामने नहीं थी। लेकिन मैं पढ़ाई-लिखाई में निहायत साधारण और थर्ड क्लास था। स्मरण-शक्ति मामूली परिश्रम, का माद्दा कम। कुछ सपने देखने और हवाई किले बनाने का आदि। कमबख्ती है कि आज तक यह आदत नहीं छूटी।

१६१६ में जब मैं दसवें दर्जे में पढ़ता था, एक ऐसा योग आया जिसके कारण मेरा समूचा जीवन बदल गया। लखनऊ-कांग्रेस होने वाली थी। लोकमान्य तिलक ने बम्बई में एक भाषण दिया, जिसमें उन्होंने लोगों को लखनऊ-कांग्रेस में शामिल होने का निमन्त्रण दिया। तिलक उन दिनों हम सबके हृदय-सम्राट् थे। उनका भाषण पढ़कर लखनऊ जाने की तैयारी की और दोस्तों से रुपया उधार लेकर चल दिया लखनऊ की तरफ। एक लोटा, एक कम्बल, एक धोती, एक डंडा, चन्द रुपये, यही सामान था। नंगे पैर ऊनी कपड़ा एक भी नहीं। कानपुर पर आकर मेरा परिचय एक महाराष्ट्र सज्जन से हुआ। उनसे ठहरने की बात हुई। जब उन्होंने होटल में ठहरने की बात कही तो मैंने भी उनसे प्रार्थना की कि साथ ही ठहर जाते हैं। उन्होंने कहा कि मेरे एक साथी किसी दूसरे डिब्बे में बैठे हुए हैं, लखनऊ पर उनसे पूछने पर कुछ कहा जा सकता है। लखनऊ पर उन सज्जन मित्र को देखा। एक दुबला-पतला सौम्यतामय मुखमुद्रा वाला व्यक्ति मेरे सामने खड़ा था, निहायत गौ आदमी। मैंने अपनी बिथा कही तो वे राजी हो गए। लखनऊ में एक होटल में ६ रु० रोज किराये पर एक गन्दे से कमरे में हम ठहर गए। वहाँ बातचीत के सिलसिले में पता चला कि वे दुबले-पतले सज्जन थे श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'। उन दिनों चतुर्वेदी जी 'प्रभा' के

सम्पादक थे और मैं 'प्रभा' का ग्राहक था इसलिए उनकी रचनाएं पढ़ता रहता था।

शाम को चतुर्वेदी जी के साथ कांग्रेस-पंडाल की ओर गया तो वहां 'प्रताप'-सम्पादक श्रद्धेय गणेशशंकर जी विद्यार्थी से भेंट हुई। मैं समझता था कि गणेश जी एक हट्टे-कट्टे, महाराणा प्रताप की सी मूंछों वाले, तगड़े जवान होंगे, पर गणेश जी निकले निहायत ही मझोले, ठिगने कद के दुबले-पतले युवक। वहीं एक बनिये साहब तशरीफ रखते थे। लाल पगिया बांधे, मैले से कपड़े पहने, एक छड़ी लिये, नेत्रों मे बुद्धि का तेज बटोरे। मैं जरा दूर था। मैंने देखा कि चतुर्वेदीजी उस बनिया-रूपधारी को प्रणाम कर रहे हैं। बाद में मालूम हुआ कि ये महानुभाव स्वनाम-धन्य श्री मैथिलीशरण जी गुप्त हैं।

प्रातःकाल चतुर्वेदी जी गणेश जी के स्थान पर चलने की तैयारी करने लगे। मुझे भी साथ चलने को कहा। मैं साथ हो लिया। गणेश जी शायद गणेशगंज के एक मकान में ठहरे हुए थे। उनके साथ थे उनके मित्र पं शिवनारायण मिश्र और महाशय काशीनाथ जी। चतुर्वेदी जी ऊपर वाली कोठरी में ठहरे और मैं नीचे की कोठरी में जम गया। गणेश जी ने पूछा तो माखनलाल जी ने कह दिया कि एक विद्यार्थी है, आ गया है।

कांग्रेस देखने की चिन्ता हुई। दिन-भर दौड़-धूप करने पर भी टिकट प्राप्त न कर सका। शाम को गणेश जी ने पूछा तो परेशानी बताई। उन्होंने कहा कि स्वावलम्बन करो। दूसरे दिन छोटे लाट साहब कांग्रेस में आने वाले थे। लोगों की भीड़ बढ़ गई और मेरा प्रयत्न व्यर्थ। लेकिन उस दिन मैंने सब्जैक्ट-कमेटी में जाते हुए लोकमान्य तिलक के चरण छू लिए। डेरे पर लौटा तो गणेश जी ने फिर वही सवाल किया। मैंने सहज

स्वभाव से कहा कि टिकट तो नहीं मिला, पर आज कांग्रेस देख ली, लोकमान्य के चरण-स्पर्श कर लिए। लेकिन गणेश जी ने इस पर ध्यान नहीं दिया और दस रुपये का टिकट मेरे हाथ पर रख दिया। मैंने तीन दिन खूब कांग्रेस देखी। अन्तिम दिन गणेश जी से मेरी बातें हो गईं। आर्य समाजी विचारों के प्रभाव से कुछ हुज्जत करने की आदत पड़ गई थी। सो गणेशजी से उलझ पड़ा। दो घंटे तक बहस चलती रही। गणेश जी पर अनुमानतः मेरी विलक्षण बुद्धि का प्रभाव पड़ा। चलते समय उन्होंने कहा 'आपसे मिलकर बहुत खुशी हुई, इसे आप लोकाचार न समझें। मेरे लायक सेवा लिखते रहें।'

मैट्रिक पास करने के बाद पढ़ने की सूझी तो गणेश जी का खयाल आया और मैं कानपुर चल दिया। स्वावलम्बी होकर पढ़ने का इरादा था। लखनऊ-कांग्रेस और कानपुर की यह यात्रा मेरे जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण है। पहली यात्रा में गणेश जी, माखनलाल जी आदि गुरुजनों के दर्शन मिले, उनसे परिचय हुआ। दूसरी यात्रा में गणेशजी का आश्रय मिला, दुनिया को देखने का अवसर मिला और राजनीति तथा साहित्य में थोड़ा-बहुत प्रवेश करने एवं कार्य करने की प्रेरणा मिली।

मुझे पन्द्रह वर्षों तक श्रद्धेय गणेशशंकर जी विद्यार्थी के चरणों में बैठने का, उनके नेतृत्व में काम करने का, उनकी प्रेरणा से कारागार की ओर अग्रसर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे उनके सदृश दूसरा आदमी आज तक देखने को नहीं मिला। मैं इस बात पर गर्व करता हूँ कि मैं नर-पारखी हूँ। एक निगाह में लोगों को तोल लेता हूँ। गणेश जी-सा नरवर मैंने आज तक नहीं देखा। उन दिनों जब मैं कानपुर आया तो मैं खाता खूब था। चालीस-चालीस रोटियाँ

उड़ा जाना बाएँ हाथ का खेल था। छात्रावास के सभी महाराजों के लिए मैं जू-जू था। लोग मुझे अपने मैस 'रसोईघर' में लेते हिचकते थे। गणेशजी ने ही मेरा सब प्रबन्ध किया था। लिखने की ओर मेरी जो रुचि हुई उसका श्रेय भी पूज्यचरण गणेश जी को ही है। यों तो बहुत पहले से लिखने की ओर रुचि थी पर प्रेरणा गणेश जी की ही थी। अगर मैं यों कहूँ कि उन्होंने मुझे कलम पकड़कर लिखना सिखलाया तो अत्युक्ति न होगी।"

"गणेश जी के अतिरिक्त कानपुर में आपका परिचय और किन-किन साहित्य-सेवियों से हुआ?" मैंने पूछा।

उन्होंने कहा—"कानपुर में गणेश जी के अतिरिक्त जिन साहित्य-सेवियों से परिचय हुआ उनमें पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, बाबू भगवतीचरण वर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि महानुभाव मुख्य हैं। प्रताप प्रेस से सम्बद्ध रहने के कारण ही पूजनीय अग्रज श्री मैथिलीशरण गुप्त, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा, स्व० पं० बद्रीनाथ भट्ट, पं० वेंकटेश-नारायण तिवारी आदि मित्रों तथा बड़ों का साक्षात्कार हुआ। कानपुर के पूजनीय महाशय काशीनाथ (अब स्वर्गीय) और मेरे विद्या-गुरु प्रोफेसर आर्मंड एवं प्रिंसिपल डगलस का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा है। महाशय जी को तो गणेश जी तक बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने उन दिनों जिस तरह मेरे मस्तिष्क को परिपक्व करने में सहायता दी, वह आजीवन कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करने की वस्तु है।

जब मैंने उनसे यह पूछा कि आपकी प्रथम रचना कहाँ छपी और वह कैसे लिखी गई तो वे उन्मुक्त हास्य विकीर्ण करते हुए कहने लगे, "पहली कविता मैंने भाँग पीकर लिखी थी और जहाँ तक मुझे याद है वह श्री ज्वालादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित

मुरादाबाद की 'प्रतिभा' में छपी थी। बात यह हुई कि स्वर्गीय श्री रमाशंकर अवस्थी, स्व पं० चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, भगवतीचरण वर्मा आदि कुछ मित्र भाँग पी लिया करते थे। श्री माखनलाल चतुर्वेदी भी उन दिनों वहीं थे। गणेशजी उन्हें खंडवा से लिवा लाए थे। मैं छात्रावास में रहता था। माखनलाल जी का डेरा प्रताप-प्रेस में था। एक दिन यार लोगों ने भंग पिला दी। उसकी तरंग में मैंने एक तुकबन्दी लिखी। उसे 'प्रतिभा' को भेजा तो मुखपृष्ठ पर छपी। मित्रों को सुनाई तो उन्हें पसंद आई और उन्होंने समझा कि मैं लिख सकता हूँ। होते-होते मैं कवि बन गया। लेकिन यह बता दूँ कि मैंने कविता के लिए किसी से 'इसलाह' नहीं ली। छन्दों और तुकों का ज्ञान था। संगीत भी मेरे प्राणों में बसा था, क्योंकि माता जी बचपन में भजनों को कभी 'सारंग' में, कभी 'कान्हडा' में और कभी 'असावरी' में गाती थीं।"

इसी समय टेलीफोन की घण्टी बजने लगी। मुझे तो बुरा लगा ही, पर नवीन जी की मुद्रा देखकर ऐसा भान हुआ कि उन्हें भी इस समय टेलीफोन का आना रुचिकर नहीं लगा। लेकिन फिर भी उन्हें उठना पड़ा। उन्होंने टेलीफोन पर बातें कीं और उसे बगल वाले कमरे में रख दिया ताकि फिर घंटी बजे तो उन्हें उठना न पड़े।

जब वे टेलीफोन से निश्चिन्त होकर आये तो मैंने उनसे कहा—"नवीन जी, मैं तो यह अनुभव करता हूँ कि राजनीति ने आपको उतनी साहित्य-सर्जना का अवकाश नहीं दिया जितना आप शुद्ध साहित्यिक होकर पा सकते थे। क्या आप ऐसा नहीं सोचते?"

नवीन जी कुछ गम्भीर होकर बोले, "कभी कभी तो मेरे मन में भी ऐसा आता है कि राजनीति ने एकान्त रूप से माता

सरस्वती की आराधना का अवसर नहीं दिया, लेकिन जब मैंने देश की स्वतन्त्रता को ही अपना प्राप्तव्य मान लिया था तब मैं राजनीति से अलग कैसे रह सकता था ? तब राजनीति भी प्राण-दान की थी। अधिक एकनिष्ठा के साथ साहित्य में लगने का अर्थ था जीवन में पलायन-वृत्ति को स्वीकार करना और कर्तव्य में विमुख होना। इसलिए मैं राजनीति में रहने के लिए विवश था, लेकिन राजनीतिक जीवन के परिणाम स्वरूप जेल जाने पर मुझे साहित्य-सृजन का भी पर्याप्त अवकाश मिला है। जेल में ही मैंने सन् १९२२ में 'विस्मृता उर्मिला' लिखनी आरम्भ की थी, जो बाहर आने पर ठप हो गई और जिसे मैंने सन् १९३२ की ढाई बरस वाली सजा में पूरा किया। यह ६००-७०० पृष्ठों का ग्रन्थ होगा। मेरे गीतों का अधिकांश जेल में ही लिखा गया है।"

जेल-जीवन के संस्मरण सुनाने का आग्रह करने पर उन्होंने कहा—"यह तो एक लम्बी कहानी है। फिर भी इतना कह सकता हूँ कि १९२१ के दिसम्बर में जेल जाना सौभाग्य की बात थी, क्योंकि वहाँ मेरा और जवाहर भाई (प० जवाहरलाल नेहरू) का साथ हो गया था। मैं इलाहाबाद में पकड़ा गया था और ५५ अन्य साथियों सहित बनारस-जिला-जेल में भेजा गया था। वहीं दादा कृपलानी से परिचय हुआ था। वहाँ से तबादला होने पर लखनऊ गया तो जवाहर भाई का साथ हुआ। जेल के संस्मरण बड़े आकर्षक हैं। किस तरह मैं तथा देवदास जवाहर भाई के साथ शेक्सपियर पढ़ा करते थे, किस तरह हम लोग रहते थे, किस तरह पूज्य टंडन जी गुड़ में मूँगफली पागकर मुझे और देवदास को बड़े वात्सल्य से खिलाया करते थे। किस तरह मैं कप्तान बनकर जवाहर भाई और देवदास आदि मित्रों तथा साथियों को कवायद कराया करता था आदि बातों का

स्मरण-मात्र हृदयग्राही है। १९३० की दो बार की जेल-यात्रा तथा १९३० और १९४० के लम्बे कारावास के भी अनेक संस्मरण हैं, जो एक ग्रन्थ का विषय है।"

जब मैंने उनसे यह कहा कि आपकी 'विप्लव-गायन' कविता की भावना और गांधी जी की राजनीति में तो मुझे कहीं मेल नहीं दिखाई देता तो इसका प्रतिवाद करते हुए उन्होंने बताया, "यह बात नहीं है! गांधी जी की प्रेरणा से ही वह 'विप्लव-गायन' आया है। इसका रहस्य यह है कि प्रारम्भिक क्रांति करने की भावना सर्व-ग्राही होती है। उस समय नई भावना के आवेश में विचारों पर नियंत्रण नहीं रहता। नियंत्रण होता तो 'माता की छाती का मधु रसमय पय कालकूट हो जाये'–जैसी पंक्ति, जिसका सीधा अर्थ नहीं निकलता, कैसे आती। उस समय तो केवल यही भावना थी कि 'नया आकाश, नई पृथ्वी और नया मानव निकले।' इसीलिए गांधीवादी परम्परा के विरुद्ध यह उद्घोष हुआ—यद्यपि प्रेरणा गांधी जी की थी।"

उन्होंने यह वाक्य समाप्त ही किया था कि उनके नगर कानपुर के दो कार्यकर्ता आ धमके। वे युवक कांग्रेस का अधिवेशन कर रहे थे और उसका सभापतित्व या उद्घाटन श्रीमती इन्दिरा गांधी से कराना चाहते थे। इसके लिए नवीन जी टेलीफोन कर दें, यही उनकी इच्छा थी। नवीन जी को फिर मन मारकर उठना पड़ा। उन्होंने टेलीफोन किया और आगन्तुक सज्जनों को, यह सूचना देकर कि ऐसे उत्सवों में भाग लेने से वे संन्यास ले चुकी हैं, विदा कर दिया।

उन सज्जनों में से एक युवक ने चुनाव में सम्भवत: नवीन जी की या कांग्रेस की खिलाफत की थी। उसको नवीन जी ने क्रोधभरी आवाज में डांटा। पर थोड़ी ही देर में फिर ज्यों-के-त्यों शान्त हो गए। मुझे लगा कि यह व्यक्ति क्रोध करने

लायक नहीं है। इसका पौरुष स्निग्धता की निधि बाँटता हुआ ही अपने वास्तविक रूप में सजता है।

उन लोगों के चले जाने के बाद मैंने उनसे एक व्यक्तिगत-सा प्रश्न पूछने की आज्ञा माँगी। आज्ञा माँगते हुए मैं थोड़ा झिझका। उसे देखकर नवीन जी ने कहा, "डोण्ट हेज़ीटेट आई एम एन ओपिन बुक" (झिझको मत, मैं एक खुली हुई पुस्तक हूँ)। उनके इस आश्वासन पर मैंने उनसे पूछा, "आपकी प्रेम की कविताओं में मांसलता की मात्रा अधिक है। इसका कारण क्या है?"

नवीन जी ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए, 'रश्मि-रेखा' की भूमिका की निम्न लिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत कीं:—
"यह ठीक है। परन्तु यह भी सत्य है कि वहाँ सूली ऊपर पिया की जो सेज है, उस तक पहुँचने के लिए हमें मृत्तिका के सोपान ही मिले हैं। ये इन्द्रिय-उपकरण, यह पञ्चमहाभूतात्मक देह, यह मन, यह प्राण ये सब भी तो मृत्तिका-सम्भूत ही हैं न? और इन्हीं उपकरणों के बल पर यह देह-बद्ध देही विदेहत्व, बुद्धत्व और ब्राह्मीस्थिति को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। कठोपनिषत्कार ने कहा है, 'परा चः कामान् अनुयन्ति बालाः' बालकगण अर्थात् निर्बुद्धिजन बाह्य कामनाओं से केवल-मात्र इन्द्रिय-सुखों और भौतिक वस्तुओं का अनुगमन करते हैं। उन्हें ही पाने में अपना जीवन बिता देते हैं। किन्तु जो इस प्रकार केवल बहिर्मुख जीवन-यापन करते हैं, उपनिषत्कार के शब्दों में 'ते मृत्योर्यान्ति विततस्यपाशम्' वे सर्वव्यापिनी मृत्यु के पाश में आ जाते हैं। आज का जग विततस्य मृत्योः पाशम् फैले हुए विस्तृत मृत्यु के पाश में फँसा हुआ है। बहिर्मुखी वृत्ति ने संसार की यह गति बना दी। किन्तु जो मैं कह चुका हूँ, इसी मृत्तिका के पुतले ने एक दिन बुद्धत्व, एक दिन गांधीत्व प्राप्त किया था।

यम ने गर्व के साथ नचिकेता से कहा था, 'अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्'—मैंने अनित्य द्रव्यों से ही नित्य को प्राप्त किया है। इसमें आश्चर्य ही क्या? यदि सन्तुलित रखने में ये अनित्य इन्द्रियाँ मानवता को गांधीत्व और बुद्धत्व प्रदान कर सकती हैं तो मेरे गीत, जो आलोचक की दृष्टि में मृत्तिका की मूरतों के लिए गाये गए गीत हैं, क्यों न करुणा, प्रेम, सर्वभूत-हित-रति और स्वार्थ-समर्पण की भावना जागृत कर सकें। हाँ उनका वह सामर्थ्य इस बात पर अवलम्बित है कि मैं अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में कहाँ तक सदाशयी और सदाश्रयी रहा हूँ। और इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र मत है कि मेरी भावना की सदाशयता का अभाव मेरी रचनाओं में कहीं न मिलेगा।"

उन्होंने फिर एक सिगरेट सुलगाई और बोले, "मेरे निकट सत् साहित्य का एक ही मापदंड है वह यह कि किस सीमा तक कोई साहित्यिक कृति मानव को उच्चतर, सुन्दरतर, अधिक परिष्कृत एवं समर्थ बनाती है। वही साहित्य सत् है, वही साहित्य कल्याणकारी एवं सुन्दर है जो मानव को स्नेहमय, श्रद्धा-सहित, विचारवान तथा चिन्तनशील बनाता है। वही साहित्य सत् है जो मानव में निरलस एवं निःस्वार्थ कर्म-रति जागृत करता है। वही साहित्य सत् है जो मानव को सर्व-भूत-हित की ओर प्रवृत्त करता है। वही साहित्य सत् है जो मानव की संकुचित वृत्तियों को अतिक्रमित करने तथा मानव 'स्व' को विस्तृत करने में मानव का सहायक होता है। यह सम्भव है कि मैं इस कोटि के सत् साहित्य का सृजन नहीं कर सका हूँ। यह भी सम्भव है कि मेरे गीतों तथा मेरी कविताओं में वासना की गन्ध मिले पर मैं इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मेरी कृतियों की 'अनित्य द्रव्यता' के पीछे 'नित्यता' की छाया रही है।"

नवीन जी काफी गहराई में चले गए थे। मैंने बातचीत को दूसरी ओर मोड़ना उचित समझा और प्रश्न कर दिया, "आपको कविता लिखने की प्रेरणा किस प्रकार होती है और आप कैसे लिखते हैं ?"

उन्होंने कहा—"जहाँ तक विद्रोही कविताओं का सम्बन्ध है, उनको प्रेरणा समाज की अवस्थाओं से मिलती है। जैसे मेरी कविता 'नंगे भूखों का यह गाना' है। १९३६-३७ में सूती मिल के ५० हजार मजदूरों ने ५० दिन की हड़ताल की थी। मैं उसका नेता था। उस समय २५-३० हजार व्यक्तियों को कानपुर की जनता से माँगकर खाना खिलाया। सर ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव ने सूर्यप्रसाद अवस्थी को हमें कुचल देने की धमकी दी थी लेकिन हम उसमें विजयी हुए। विजयी होने पर जन-बल का गुण-गान करने वाली एक भावना जागृत हुई और उसके फलस्वरूप उक्त कविता लिखी गई। इसी प्रकार 'जूठे पत्ते' शीर्षक कविता है। हम लखनऊ किसी काम से गये थे। वहाँ हमने अमीनाबाद में खाना खरीदा। वहीं एक आदमी खाना खा रहा था। उसने खाकर पत्तल फेंकी ही थी कि एक नर नाम-धारी कंकालवत् पुरुष ने उसे उठाकर चाटा। बस 'जूठे पत्ते' कविता निकल पड़ी।" यह कहते-कहते उन्होंने आवेशपूर्ण स्वर में इस कविता की निम्न पंक्तियाँ सुनाईं:—

लपक चाटते जूठे पत्ते,
जिस दिन देखा मैंने नर को।
उस दिन सोचा आग लगा दूँ,
क्यों न आज मैं दुनिया-भर को॥
यह भी सोचा क्यों न टेंटुआ,
घोंटा जाय स्वयं जगपति का।
जिसने अपने ही स्वरूप को,
दिया रूप यह घृणित विकृति का॥

कविता की इन पंक्तियों को सुनाते समय उनके कंठ में ध्वनि का उतार-चढ़ाव ऐसा था जो भावों को नाद द्वारा मूर्तिमान करता जाता था। जब उन्होंने क्रोध के साथ जगपति के टेंटुआ घोटने वाली पंक्ति सुनाई तो मुझे रोमांच हो आया।

कविता की इन पंक्तियों को समाप्त करके वे कहने लगे, "प्रेम-सम्बन्धी कविताओं के सम्बन्ध में भी यही बात है। प्रेम-सम्बन्धी अधिकांश रचनाओं का जन्म स्मृति से हुआ है। प्रिय का ध्यान आते ही गीत की प्रथम पंक्ति फूट पड़ी है और गीत बनता चला गया है।

लिखने का ढंग ऐसा है कि जो कोई भी छंद सामने आ गया उसी पर मंथन होने लगा और उसकी प्रथम पंक्ति लिख ली। अधिकतर एक ही सिटिंग में लिखता हूँ। मैं कॉपिंग पेंसिल से लिखता हूँ ताकि मिटे नहीं। लिखने के लिए नोटबुकें खरीद लेता हूँ। फाउण्टेन पेन से इसलिए नहीं लिखता कि यदि उसे खोलूँ और बीच में सोचने लग जाऊँ तो स्याही सूख जाय और गति रुक जाय। अपनी कविता लिखकर किसी को सुनाने की इच्छा नहीं होती। हाँ, कोई प्रेमी आ जाय और कहे तो दूसरी बात है। लिखने का कोई समय भी नहीं है। जब उमंग आती है, लिख लेता हूँ। बात यह है कि मेरे जीवन में नियमितता का अभाव है इसलिए नियमित लिखने का स्वभाव नहीं है।"

नवीन जी बहुत दिनों से लिख रहे हैं पर उनकी रचनाओं के संग्रह अभी-अभी प्रकाशित होने आरम्भ हुए हैं। इसका कारण जानने की मेरी इच्छा थी। मैंने जब इस विषय में उनसे पूछा तो बोले, "मेरी रचनाओं के प्रकाशित न होने का कारण वैयक्तिक ही समझिये। प्रमाद, आलस्य, निद्रा, दीर्घ-सूत्रता आदि जीवन के अङ्ग हैं। कविताएँ पड़ी हुई हैं तो

पड़ी हुई हैं, मगर उनकी कापी कौन करे, पैसे का अभाव होने के कारण उन्हें टाइप करा नहीं सकता था। ला-इतलाली, बे-परवाही और उपेक्षा के अतिरिक्त एक और भी बात थी और वह थी आत्म लघुता की भावना। सोचता था कि जब कालिदास, व्यास, वाल्मीकि-जैसे कवि हो चुके हैं तो हम किस गिनती में हैं। कृतियों के समय पर प्रकाशित न होने का उत्तरदायित्व इस भावना पर भी है।"

"लेकिन आपको अपनी रचनाओं से संतोष तो हुआ ही होगा, भले ही वे आत्मलघुता की भावना से प्रकाशित न हो पाई हों।"

"तुलसी बाबा कह गए हैं—'निज कवित्त केहि लाग न नीका।' मैं उनके कथन को उलखूँ, इतनी धृष्टता तो नहीं करूँगा, पर इतना तो मैं कह दूँ कि मुझे अपने गीतों या अपनी कविताओं से वह तुष्टि नहीं मिली जो मैं चाहता हूँ। जीवन में आत्म-तृप्ति का अभाव कदाचित् रहता ही है। यदि यह न रहे तो मनुष्य पूर्णकाम हो न हो जाय। हाँ, आत्मतुष्ट होने की जो एक आशा है, जो एक चटपटी है, वह जीवन को प्रमाद, आलस्य और निद्रा की व्याधियों के रहते हुए भी, चलाये जाती है। इसीलिए ऐसा है कि—ढ्चर-ढ्चर चलती जाती है मेरी टूटी गाड़ी।

यद्यपि जर्जर हुई आज मम नस-नस, नाड़ी-नाड़ी।"

इसके बाद समसामयिक कवियों का प्रसंग छिड़ने पर अपनी पसंद के कवियों के विषय में नवीन जी ने कहा—"जहाँ तक शब्द-सम्मार्जना और टेकनीक का सम्बन्ध है वहाँ तक मैं समझता हूँ कि पं० सुमित्रानन्दन पन्त अच्छा लिखते हैं। सप्राणता की दृष्टि से मैं श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री दिनकर को हिन्दी के सबसे अधिक प्राणवन्त कवि मानता हूँ। आचार्यों का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक श्री प्रसाद, श्री माखनलाल चतुर्वेदी और

श्री गुप्त जी अग्रज-तुल्य हैं। इनका जो दान है वह तो अमाप है। वर्तमान साहित्य इनका चिर ऋणी रहेगा। नयों में श्री शिव-मंगलसिंह 'सुमन', नरेन्द्र शर्मा और भवानीप्रसाद मिश्र में प्रतिभा और ओज है।

प्रगतिवादी कवियों के विषय में नवीन जी ने कुछ नहीं कहा था इसलिए मैंने उनसे 'आलोचना' त्रैमासिक में प्रकाशित धर्मवीर भारती द्वारा लिखित 'अपलक' की उस आलोचना की ओर उनका ध्यान दिलाया जिसमें भारती जी ने उन्हें ब्राउनिंग की कविता के आधार पर 'लास्ट लीडर' कहा है। इस पर नवीन जी ने कहा—"वह आलोचना मैंने पढ़ी है। उसके लिखे जाने का कारण 'अपलक' की भूमिका है। जिसमें मैंने विज्ञानवाद और प्रगतिवाद पर प्रहार किया है। साहित्यालोचन में इस प्रकार की जो शैली चल पड़ी है वह साहित्य का यथार्थ मूल्यांकन करने में नितान्त असमर्थ है। इतिहास की यथार्थवादिनी भाष्य-शैली और साहित्यालोचन की परिस्थिति-मूलक टीका-शैली एक सीमा तक हमारे ज्ञान को निखारती है। उनकी सीमाओं का ज्ञान दृष्टि के सन्निधान में हो तब तो ठीक, अन्यथा 'वानर कर करवाल' की उक्ति चरितार्थ हो जायगी। आज वही बात हो रही है। मानव के इतिहास को, मानव की संस्कृति को, मानव की अभिव्यक्ति को जब तक हम मानववाद की दृष्टि से नहीं देखेंगे तब तक काम न चलेगा। यदि हम इनकी ओर पूँजीवाद या समाजवाद की दृष्टि से देखते रहे तो हमें चित्र का विकृत रूप ही दिखाई देगा। आज के आलोचक चित्र में ऐसे ही विकृत रूप को देख रहे हैं लेकिन हमें इसकी चिन्ता नहीं है, क्योंकि कविता में प्राण हैं तो वह सिर चढ़े जादू की भाँति बोलती रहेगी फिर 'यहाँ कुम्हड़ बतियाँ कोऊ नाहीं, जो तर्जनी देखि डर जाहीं।' बढ़े चलो जवानो।"

'बढ़े चलो ज्वानो' नवीन जी का पेटेंट वाक्य है और इसमें लापरवाही, उच्छा, मस्ती आदि उनके स्वभाव की सभी विशेषताएँ निहित हैं। मैंने वार्ता के विवादात्मक प्रसंग को छोड़कर उनसे एक घरेलू प्रश्न वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में किया—"आप जैसे जीवन-भर 'अनिकेतन' और 'अलमस्त' रहने वाले व्यक्ति को वैवाहिक जीवन में अवश्य कुछ बन्धन मालूम होता होगा ? चिन्ता भी सताती होगी।"

नवीन जी ने निस्संकोच भाव से इस प्रश्न के उत्तर में कहा—"यह तो नितान्त स्वाभाविक बात है। वैसे मैं पहले भी चिन्ता-शून्य नहीं था। मुझे गणेश जी के परिवार की चिन्ता बराबर घेरे रही है। लेकिन चिन्ता के साम्राज्य में रहने पर भी आज तक कभी मुझे प्रेरणा का अभाव नहीं रहा ?"

अन्त में चलते-चलते में जब मैंने उनको रहन-सहन, रुचि और हॉबी के सम्बन्ध में कुछ जानकारी चाही तो कहने लगे—"मेरी हॉबी कोई नहीं है। कानपुर में जब तक कौशिक जी जीवित थे प्रायः उनके यहाँ बैठक जमा करती थी। अब ऐसा साधन नहीं रहा, जहाँ बैठकबाजी हो और मित्रों की चोंचें लड़ें। जीवन में व्यस्तता से भी इसकी सुविधा नहीं रही।

रुचि की बात यह है कि सात्विक परन्तु स्वादिष्ट भोजन मुझे प्रिय है। साफ कपड़े पहनने का शौक है पर धोने से नफरत है, शुद्ध गिलास में पानी पीने का शौक है, पर माँजने से अरुचि है, अच्छे बिस्तर पर सोने को इच्छा है, पर कौन बिछाए इसलिए खरैरी खटिया पर ही पड़े रहते हैं।"

अन्त में मैंने उनसे सस्वर कविता सुनाने का आग्रह किया। समय बहुत हो चुका था और उन्हें बहुत से काम करने थे। बातचीत भी लम्बी हो गई थी पर मेरे आग्रह का निर्वाह करना उन्होंने उचित समझा और 'रश्मि-रेखा' संग्रह की प्रथम कविता

'आई यह अरुणा सुकुमारी' गाकर सुनाई। संगीत का विधिवत अभ्यास उन्होंने नहीं किया, पर उनके कंठ में स्वरों का स्वाभाविक आरोह-अवरोह और ध्वनि का सहज कम्पन है, जिसके कारण वे बहुत सुन्दर गा लेते हैं। मेरे कानों में आज तक उनके वे स्वर गूँज रहे हैं। चलते समय उन्होंने 'रश्मि-रेखा' की एक प्रति मुझे दी। उनसे भेंट करने के बाद आज जब मैं उनके व्यक्तित्व और स्वभाव के विषय में सोचता हूँ तो भाई श्री वैजनाथसिंह 'विनोद' के वे शब्द मुझे याद आ जाते हैं, जो उन्होंने रैड स्क्वायर में नवीन जी की प्रशंसा करते हुए कहे थे।

अप्रैल १९५२]

४

श्री जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्र जी को सर्व प्रथम मैंने सन् '३६ में देखा था। हम छात्रों की एक छोटी सी सभा थी। जिसका नाम था 'विद्यार्थी वाद-विवाद-सभा'। उसी में वे भाषण देने पधारे थे। उस सभा का सभापतित्व उस वर्ष स्वर्गीय प्रेमचन्द ने किया था। प्रेमचन्द जी तब सपत्नीक हमारी सभा के उत्सव में सम्मिलित हुए थे। मुझे याद है कि जैनेन्द्र जी से लोगों ने भाषण के बाद उनकी कृतियों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे थे। एक सज्जन ने 'त्याग-पत्र' की प्रेरणा के विषय में प्रश्न किया था। जिसके उत्तर में जैनेन्द्र जी ने कहा था कि उन्हें उसकी प्रेरणा हाथरस के एक मकान के एक कमरे में देखी एक स्त्री की मुद्रा से मिली। उस समय उनकी वेश-भूषा और सादगी का मेरे ऊपर भारी प्रभाव पड़ा था। उनके चले जाने के बाद मैंने उनकी रचनाओं का अध्ययन आरंभ किया और लगभग सभी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ डाले। उनकी शैली और वाक्य-विन्यास का ढंग बड़ा अट-पटा जान पड़ा। पर रस की छलकन के कारण मैं उन्हें पढ़ता चला गया। एक दिन तो यह हुआ कि मैं साहित्य-रत्न-भण्डार आगरा में बैठा था कि हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई की सीरीज वाली अलमारी में से 'त्याग-पत्र' उठा लिया। एक-दो

पृष्ठ पढ़कर ही ऐसा हुआ कि वहीं उसे समाप्त कर दिया। इस उपन्यास की कथन-भंगिमा ऐसी आकर्षक लगी कि मित्रों को लिखे गए दो-चार पत्रों में उस शैली की नक़ल करने की मूर्खता भी मैंने की।

उसके बाद सन् '३६ में हिन्दी-प्रचार-कार्य से मैं गुजरात गया। बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के संस्थापक-संचालक भाई भानु-कुमार जैन के यहाँ तब हिन्दी के साहित्यकारों का जमाव रहता था। कोई ऐसा साहित्यकार नहीं था जो बम्बई जाता हो और भानुकुमार जी के यहाँ न ठहरता हो। जैनेन्द्र जी भी सन्' ४० में शिक्षा-संशोधन-समिति की बैठक में भाग लेने के निमित्त बम्बई पहुँचे। मैं बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ में था। भानुकुमार जी ने जैनेन्द्र जी से मेरा परिचय करा दिया। उस समय जैनेन्द्र जी जितने दिन बम्बई में रहे, मैं बराबर उनके साथ समुद्र-तट की सैर को जाया करता था। उनका चिन्तक और दार्शनिक तब भी सजग था। मुझे तब भी और आज भी आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि ऐसे विचारक के हाथों 'सुनीता' 'त्याग-पत्र' और 'सुखदा'-जैसे सरस उपन्यासों की सृष्टि कैसे होती है?

सन्' ४१ में आगरा में युक्तप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन पर फिर उन्हें देखा। उन दिनों जैनेन्द्र जी दिग्विजय करते घूम रहे थे। स्थान-स्थान पर साहित्य और भाषा की समस्या पर अपनी दृष्टि से विचार करना उनका कार्य था। इन समस्याओं का हल वे गांधीवादी दृष्टिकोण से रखते थे। साहित्यिक तथा शिक्षा-संस्थाओं में उनके भाषण बराबर होते थे। वह उनके नेतृत्व का समय था।

४८ में मैंने उन्हें और भी निकट से तब देखा जब वे एक पारिवारिक काम से आगरा आए। उन दिनों वे एक हफ्ते तक रोज़ प्रातःकाल छः बजे आकर मुझे जगाते थे और हम लोग

साथ-साथ टहलने जाते थे। मुझे बड़ी शर्म आती थी कि मैं जल्दी उठकर उनके पास नहीं पहुँच पाता था। एक दिन जब मैंने इस विषय में कुछ कहा तो उन्होंने यह कहकर मेरा मुँह बन्द कर दिया कि किसी एक को तो पहले पहुँचना है ही, मैं पहुँचूँ या तुम, इसमें बात कौन सी है। ऐसी सरलता उनके जैसे प्रतिष्ठा-प्राप्त साहित्यकारों में कम ही मिलेगी। यही नहीं आगरा से जाने पर उन्होंने जो मुझे एक पत्र लिखा था, उसमें उन्होंने विनम्रता से मेरे प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन किया था। मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मेरे-जैसे सामान्य व्यक्ति के लिए जैनेन्द्र जी ऐसा पत्र लिखेंगे। लेकिन उनकी प्रकृति ही ऐसी है कि वे अपने बड़प्पन का आभास नहीं होने देना चाहते और यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि वे महान् होकर भी बातचीत के समय शिशु-सुलभ बात करते हैं, फिर चाहे वह बात कितनी ही गहरी क्यों न हो।

इतना घनिष्ठ और पुराना परिचय होने पर भी जब सन् '४६ में इण्टरव्यू के लिए मैं उनके पास गया तो उन्होंने सफ़ाई से मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर मुझे टाल दिया और इस प्रकार अपने को छिपा लिया। यद्यपि उन उत्तरों में चमत्कार की कमी नहीं थी तथापि मुझे उनसे सन्तोष नहीं हुआ था। कर भी क्या सकता था? उनके स्वभाव की विशेषता ही यह है कि वे प्रश्न-कर्ता को चमत्कृत करने की चेष्टा अधिक करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उनके उत्तरों में तत्त्व की बात नहीं होती। तत्त्व की बात होती है, पर ऐसी कि जब तक स्वयं पाठक ही उसके भीतर न घुसे, कुछ हाथ नहीं आता। उनकी चिन्तन-पद्धति के निरालेपन और वैचित्र्य के कारण उनकी विचार-धारा और भाषा दोनों में एक विशेष प्रकार का वैशिष्ट्य आ गया है।

इस वर्ष जून के महीने में फिर मिला और इण्टरव्यू लेने का प्रस्ताव रखा। साथ ही यह भी कहा कि मैं इस बार आपसे चमत्कारपूर्ण उत्तरों की अपेक्षा गंभीर और ठोस उत्तर चाहता हूँ। इस पर वे बोले, "यह तुम्हारे ऊपर निर्भर है कि तुम मुझसे क्या निकलवाते हो? तुम चाहो तो ऐसी स्थिति पैदा कर सकते हो कि मुझे विवश कर दो और अपने अनुकूल बातें निकलवा लो। मैं तो अपनी ओर से कुछ करने का नहीं।"

मैं इस बात पर सहमत हो गया और ६ जून को प्रातः काल सात बजे दरियागंज में उनके फैज बाजार के कमरे में पहुँचा। यहाँ जैनेन्द्र जी प्रातःकाल ही नित्य कार्य से निश्चिन्त होकर आ जाते हैं। यहीं वे लेखक को कोई रचना 'डिक्टेट' कराते हैं और यहीं साहित्यकारों से मिलते हैं। यह स्थान उनके घर से अधिक दूर नहीं है। यहाँ वे घर के बच्चों के शोर-गुल से बचने के लिए एकान्त समझकर आते हैं, पर एकान्त उन्हें मिलता नहीं। कारण, यहाँ भी उनके बच्चे न केवल खेलते हैं वरन् कभी-कभी तो उनकी गोदी में भी बैठ जाते हैं। जैनेन्द्र जी जैसे इन बातों के अभ्यस्त-से हो गए हैं इसलिए उनके कार्य में बाधा नहीं पड़ती। बाधा यदि पड़ती भी होगी तो वे उसे ध्यान में न लाते होंगे, क्योंकि यदि ध्यान में लाते होते तो किसी बालक को अवश्य झिड़कते, जो मैंने कभी नहीं पाया।

हाँ, तो जिस समय मैं जैनेन्द्र जी के यहाँ पहुँचा, उस समय वे 'डिक्टेट' करा रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने 'डिक्टेट' कराना बन्द करा दिया और जैसे कोई मशीन पर काम करने वाला मजदूर बनियान और नेकर पहनकर काम करने के लिए ऊपर के कपड़े फटने या खराब होने के डर से उतार देता है वैसे ही जैनेन्द्र जी ने धोती और कुर्ता खूँटी पर टाँग दिए और अण्डरवियर तथा बनियान पहने हुए ही गद्दी पर आ बैठे। बात-

चीत आरम्भ हुई 'धर्मयुग' में प्रकाशित 'सुखदा' उपन्यास से। उसमें तथा साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित 'विवर्त' में रस की कमी नहीं है, ऐसा मेरी तरह जैनेन्द्र के अनेक पाठकों का मत है और मैं इन्हें उन आलोचकों के लिए एक जवाब मानता हूँ जो कथाकार के नाते जैनेन्द्र की मृत्यु पर शोक मनाते रहे हैं। मैंने उनसे कहा—"आपने यह अच्छा किया कि इधर-उधर की भाग-दौड़ छोड़कर लिखना शुरू कर दिया। आपके 'सुखदा' में 'परख' और 'सुनीता' का रस और ताजगी है। क्या यह हाल ही में आपको सूझा है या पुरानी ही कोई कथा अब निकली है?"

जैनेन्द्र जी बोले—"यह नई चीज भी है और पुरानी भी। इसके जन्म की भी एक कहानी है। आपने सत्यवती का तो नाम सुना ही होगा। उसने दिल्ली में कांग्रेस का बड़ा कार्य किया है। उसे सार्वजनिक जीवन में कार्य करते हुए देखकर मेरे मन में कुछ विचार उठे। सत्यवती की शहादत की तो प्रशंसा की हो जायगी पर उसके जीवन में क्या शान्ति थी? केवल इतनी सी बात को लेकर मेरे 'सुखदा' उपन्यास की नींव पड़ी है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि सत्यवती का जीवन ही 'सुखदा' का आधार है। एक विचार मुझे मिल गया है और उपन्यास आगे बढ़ रहा है। जब तक बढ़ेगा, बढ़ाऊँगा: न बढ़ेगा बन्द कर दूँगा। बात यह है कि मैं कोई सोचकर तो लिखता ही नहीं। लिखना आरंभ करता हूँ तो एक बात आ जाती है और उसी में एक अध्याय पूरा हो जाता है।"

इतना कहकर वे चुप हो गए। मैंने मन में सोचा कि ऐसे ही स्फुट प्रसंगों पर बात चलती रही तो फिर संक्षिप्त उत्तरों से ही सन्तोष करना पड़ेगा और मेरा उद्देश्य पूर्ण न होगा। इसलिए मैंने जैनेन्द्र जी से कहा कि आज तो मैं आपके जीवन के

आरंभिक दिनों की कहानी सुनना चाहता हूँ। उसके बिना आज के जैनेन्द्र का विकास-क्रम समझना कठिन है। इस पर जैनेन्द्र जी ने मुझे महात्मा भगवानदीन-रचित 'मेरे साथी' पुस्तक देते हुए कहा कि बचपन का कुछ हाल आपको इसमें मिल जायगा। उस पुस्तक के आधार पर उनके बचपन की रूपरेखा इस प्रकार है कि उनका जन्म सन् १६०५ में हुआ था। नाम रखने वाले दिन पंडित ने यह भविष्य-वाणी की थी कि वे अपने पिता के लिए भारी होंगे। इससे वे अपने पिता की निगाहों में उतर गए थे। पंडितों की भविष्य-वाणी सच निकली। उनके पिता सन् १६०७ में चल बसे। यों जैनेन्द्र जी पिता के प्यार से वंचित रहे। लेकिन उनके पिता कहानी कहने में बड़े निपुण थे। सुना जाता है कि वे कहानी कहते-कहते सीन खड़ा कर देते थे। पिता से प्यार चाहे उन्हें न मिला हो पर कहानी कहने का यह गुण अवश्य विरासत में मिला है। प्यार भी उन्हें कम नहीं मिला। पिता के न रहने पर मामा का उन्हें इतना प्यार मिला कि पन्द्रह वर्ष तक वे यही नहीं समझ पाये कि मामा मामा हैं या पिता! क्योंकि पिता के मरते ही वे मामा के यहाँ चले आए थे। उनकी माँ का व्यवहार भी उनके साथ बड़ा अच्छा था। एक बात और है। जैनेन्द्र जी पर जितना उनके मामा तथा माँ का प्रभाव है उतना ही उनकी बड़ी बहन का भी है।

उनका असली नाम आनन्दीलाल है। जैनेन्द्र गुरुकुल का दिया हुआ नाम है। जिस गुरुकुल में उनकी शिक्षा हुई वह हस्तिनापुर में था और उनके मामा ने ही उसे स्थापित किया था। तब वे सात वर्ष के थे। पढ़ने-लिखने में गोल थे। सब में शून्य आता था। उस समय की एक घटना इस प्रकार है कि उनके मामा (महात्मा भगवानदीन) ने उन्हें एक चिट्ठी लिखी। उस चिट्ठी को पढ़कर वे रो पड़े। उसके बाद से वे कभी सैकिण्ड

नहीं आए। पढ़े तब भी नहीं, क्योंकि पढ़ने का स्वभाव ही नहीं था। वैसे पढ़ने में तेज बहुत थे। उन्हें तीसरी कक्षा में प्रथम आने पर भी सिर्फ इसलिए आगे की कक्षा में नहीं चढ़ाया गया था कि उम्र के लिहाज से वे चौथी कक्षा का बोझ नहीं उठा सकते थे।

थे बड़े लापरवाह थे, न पढ़ना न लिखना। झेंपू और शर्मीले भी हद दर्जे के थे। सबसे अलग रहते थे। स्कूल के दिये हुए काम में तो कमी नहीं करते थे, पर शर्म के मारे खेल नहीं पाते थे। संस्कृत का अक्षर तक न जानने पर भी उन्हें संस्कृत के सूत्र हिफ्ज थे। पढ़ने में ध्यान नहीं रहता था। मंदिर में जाते थे तो भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था। एक बार मंदिर में 'आदि-पुराण' पढ़ा जा रहा था। पढ़ने वाले थे स्वयं महात्मा भगवानदीन जी। जैनेन्द्र जी को तब गुरुकुल गए एक ही साल हुआ था। पुराण में भरत बाहुबलि का प्रसंग आया तो जैनेन्द्र जी की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। वह प्रसंग उनके मन को कुछ इस तरह छू गया कि सन् '३४ में आकर उन्होंने 'बाहु या बलि' कहानी लिखी। इस बीसों वर्ष नीचे गड़ी बात का स्मरण उन्हें अनातोले फ्रांस की 'थाया' पढ़कर अकस्मात् हो आया। उन्हें लगा कि 'थाया' में जो मर्म है, उससे गहरा तत्त्व तो बाहुबलि के प्रसंग में पड़ा है। इच्छा थी कि उस पर उपन्यास लिखेंगे पर उपन्यास जाने कब लिया जाता और कब लिखा जाय इससे सन् '३४ में इस प्रसंग के स्मृति में आने पर उसे उन्होंने कहानी में ही अंकित कर दिया।

गुरुकुल में उनकी कक्षा में और सब साथी १२-१३ वर्ष के थे पर वे केवल ६ के ही थे। तो भी वे फर्स्ट आते थे। लेकिन बोलने और लिखने में कोरे थे। सभी साथी बोलते थे पर उन्होंने गुरुकुल की किसी सभा में एक मिनट भी बोलकर नहीं दिया। यही

वहाँ गुरुकुल में जो हस्तलिखित पत्रिका और 'बाल पेपर' निकलते थे उनमें भी उन्होंने कभी एक लाइन नहीं लिखी।

सन १९१८ में महात्मा जी के गुरुकुल से हटाये जाने से सब बिखर गया। वे दिल्ली आ गए, जहाँ उनकी माता जी महिलाश्रम की संचालिका थीं। माता जी ने उन्हें मास्टर बलवन्तसिंह के पास बिजनौर भेज दिया। वहाँ उन्होंने प्राइवेट मैट्रिक की तैयारी की। उन्हें मैट्रिक का इम्तहान देने से उम्र कम होने के कारण रोका गया। इस पर वे खूब रोये। आखिर उन्हें इम्तहान में बैठने दिया गया और सन् १९१९ में उन्होंने पंजाब से मैट्रिक पास किया। उस वर्ष गांधी जी के पकड़े जाने की वजह से दिल्ली में गोली चली थी। घंटाघर पर गोली चलने के समय वे वहीं थे।

जैनेन्द्रकुमार की माता जी कुशल, दक्ष और साहसी थीं, पर वे उनसे बिलकुल उलटे हैं। उनकी माता जी में व्यावहारिक सूझ-बूझ इतनी अधिक थी कि सन् '१० से महात्मा जी ने घर उन्हीं पर छोड़ दिया था। उनके नाना इंजीनियर थे और भिन्न-भिन्न प्रांतों में रहे थे। उनके साथ रहने से उनकी माता जी भी बड़े उदार विचारों की हो गई थीं। विधवा होने के बाद उन्होंने न केवल भाई की गृहस्थी को सँभाला वरन स्वयं भी अध्ययन किया और अंत में एक महिलाश्रम की संचालिका बन गईं। वे बड़ी निर्भीक थीं। और अपने भाई के पंजाब मार्शल-ला में पकड़े जाने पर लाट साहब से मिलने पहुँच गई थीं। इसी प्रकार एक बार बैतूल के अंग्रेज कलक्टर को राखी बाँधने जा पहुँचीं और उसके बदले कांग्रेस का चन्दा माँगने लगीं। कलक्टर ने चंदा तो नहीं दिया पाँच सेब अवश्य दिये थे, जो उन्होंने स्वयं-सेवकों में बाँट दिए। उन्होंने सदा राजनीति में क्रियात्मक सहयोग दिया और महिलाश्रम की लड़कियों को राजनैतिक कार्य करने लिए प्रेरित

किया। वे देश और समाज की सेवा में डूब गई थीं और बड़ी योग्यता से घर तथा बाहर की व्यवस्था कर लेती थीं।

ऐसी माता के पुत्र हैं जैनेन्द्र जी। मैट्रिक पास करने के बाद उनको बनारस-विश्वविद्यालय में भेजा गया। तब तक विश्वविद्यालय पूरा बना नहीं था। असहयोग-आन्दोलन के कारण वे पूरे दो वर्ष भी विश्वविद्यालय में नहीं रह पाए और छोड़कर घर चले आए। तब उनकी उम्र सोलह साल की थी। पढ़ाई छोड़ तो दी लेकिन समझ में न आता था कि क्या करें। लाजपतराय के तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स में गए, पर वहाँ भी मन नहीं लगा। चले आए। घूमते रहे। उन्हीं दिनों वे अपनी मामी जी को लेकर नागपुर जाते हुए जबलपुर रुके। तब 'कर्मवीर' जबलपुर से निकलता था। वे श्री माखनलाल चतुर्वेदी के यहाँ ठहरे। वहाँ उन्होंने सुभद्रा जी को देखा। सुभद्रा जी को देखकर उन्हें ऐसा लगा मानो वे नीचे खड़े हैं और सुभद्रा जी हिमालय की चोटी पर। वे अपने को अपदार्थ मानकर लड़कों में खेल तक न पाते थे। जब माखनलाल जी पकड़ लिये गए तब वे नागपुर गए। माखनलाल जी पर जब केस चला तो सुभद्रा के साथ बिलासपुर जाना पड़ा। वहाँ कांग्रेस का काम करते रहे। वहाँ से सन् '२१ में अहमदाबाद-कांग्रेस में पहुँचे। इधर से उनकी माता जी गईं और उनको अपने साथ दिल्ली लिवा लाईं।

"इसके बाद यह हुआ कि" जैनेन्द्र जी ने स्वयं कहा, "कुछ नहीं हुआ। दिन बीतते गए। महात्मा जी की चिट्ठी लेकर एक महाशय माता जी के पास आए। उनको भगवानदीन जी ने छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके कारपेण्टरी की शिक्षा दिलाई थी। माता जी से रुपया लेकर उन्होंने पहले चर्खे, फिर कंघे और फिर फर्नीचर का कारखाना खोला। जैनेन्द्र मालिक समझे जाते थे और उसमें ही योग देते थे। स्वदेशी का जमाना था, कारखाना फला-

फूला। सन '२३ में भगवानदीन जी का नागपुर से तार आया और वहाँ चल दिए। वहाँ झण्डा-सत्याग्रह की लड़ाई छिड़ी थी। वहाँ हमें जाने किन-किन अखबारों के संवाददाता का काम करना पड़ा। लिखने की बात हमारे लिए हौवा थी पर वही सिर आ पड़ी तो क्या किया जाय? दो बार सोचने या देखने के लिए वक्त न था। घटनाएँ तेजी से होतीं थीं। रोज गिरफ्तारियाँ होती थीं और रोज़ कुछ-न-कुछ गुल खिलता। बात टल नहीं सकती थी और न देर हो सकती थी। आज का तार आज ही जाना चाहिए। मालूम नहीं कैसे क्या होता होगा। घसीट में 'प्रेस-मेसेज' लिखा नहीं कि तार से वह दूर-दूर खटखटा दिया गया। गोवन साहब, (जो पीछे गवर्नर हुए और उस वक्त वहाँ के जिलाधीश थे) उन तारों पर झुँझलाए रहते थे पर सीधे क्या कहें। संवाददाताओं को एक साथ बुलाकर संकेत से उन्होंने हमें कहा। हमने कहा कि आपको हक है, तार रोक लीजिए। अपनी तरफ से हम सच ही लिखते हैं और आपको पहले दिखाने का कोई सवाल नहीं उठता। थोड़े दिन बाद हमें गिरफ्तार कर लिया गया और सज़ा ठोक दी गई। तब की जेल जेल थी। गये सन '३० में भी जेल और '३२ में भी पर वह स्वाद फिर न रहा। '२३ वाली जेल में डंडा-बेड़ी और आड़ी बेड़ी भी मिलीं। नागपुर से होशंगाबाद-जेल भेज दिये गए पर संधि हो गई। सरदार पटेल से सरकार का समझौता हो गया और मुश्किल से तीन महीने की जेल काटकर रिहा हो गए और सीधे दिल्ली आए।

कारखाना अब फैल गया था यानी अब वह खुद पीछे पड़ गया था। एक दुकान आगे बढ़ आई थी। खासी आमदनी थी। माँ ने कहा कि दुकान पर बैठा करो। बैठते तो थे, पर जैसे अजनबी हों। हमने माँ से कहा। माँ ने बनवारीलाल को बुलाया, वह आँख फेर गए। कहा, 'दुकान हमारी है, कारखाना हमारा है।

रुपये कुछ आपके थे। देकर, चुकता कर देंगे।' और क्या होना? माँ सिर पीट रही और हम छुट्टी पा गए। सन '२७ में भगवानदीन जी दिल्ली होते हुए रावलपिण्डी जा रहे थे। ख्याल था काश्मीर जायेंगे। काश्मीर का नाम सुना था जैसे स्वर्ग का सुनते हैं। कहा, 'हम भी चलेंगे।' चल तो पड़े पर मालूम हुआ कि पाँव-पैदल ही रावलपिण्डी से आगे जाने का विचार है। यह नई बात थी पर सोचा, 'देखा जायगा।' ख्याल था कि सोचते एक हैं, होता दूसरा है। पर रावलपिण्डी में सचमुच पैदल चलना शुरू हो गया। हमने भी सामान पिण्डी छोड़ा और साथ हो लिए। मजेदार अनुभव रहा। 'हंस' के 'आत्मकथांक' में उसी प्रवास के दो अनुभव हमने लिखे थे।

"लौटकर फिर ख्याल किया 'क्या करें?' मटर गश्ती करें यह तो ठीक ही है पर यह कुछ करना नहीं कहा जा सकता। या उसका सुभीता है कि अकेले हो या नाता तोड़कर अकेले बन जाओ। माँ के रहते और हालत बे-पैसा रहते घुमक्कड़ी का धन्धा नहीं उठाया जा सकता। ऐसे समय हमारे हाथ आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'अन्तस्तल' पड़ गया। हमने उसी ढंग का 'देश जाग उठा था' गद्यकाव्य लिखा। उसकी प्रेरणा नागपुर में जनरल अवारी को शास्त्र-सत्याग्रह में हुई चार साल की सजा से मिली थी। यही मेरी पहली रचना थी। 'अज्ञात' नाम से वह 'कर्मवीर' को भेजी गई पर अप्रकाशित रही।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने उस पर नोट देते हुए माखनलाल जी को लिखा था—'श्री जैनेन्द्र जी की पहली चीज 'कर्मवीर' के लिए आ रही है। आपके द्वारा इनके पार्थिव शरीर का परिचय मुझे हुआ था। अब तात्विक शरीर का परिचय मेरे द्वारा होने दें। अभी ये नामकरण भी हुआ है। इसे भी पहचान लें। यह वस्तु 'कर्मवीर' का एक सम्पूर्ण पेज खायगी। बोर्डर

लगाकर सज-धज से वह पेज निराला छपना चाहिए। आपका चतुरसेन।'

"आठ-दस दिन बाद एक और रचना लिखी। चतुरसेन जी ने उसे 'विश्वमित्र' को भेज दिया। पर वह दीखी नहीं। 'विशाल भारत' में सबसे पहले एक 'देवी अहिंसे' नामक गद्य-काव्य छपा था। उस पर न जाने कैसे चतुरसेन जी का ही नाम छपा। सम्पादक की असावधानी में ही ऐसा हुआ होगा। उन दिनों हमारी हालत यह थी कि करने-धरने को कुछ न था। नौकरी दे कौन? बनारसीदास चतुर्वेदी ने उम्मीद दिलाई। तब हम गए नहीं। कई महीने बाद कलकत्ता पहुँचे। दस-बारह दिन कलकत्ता रहे, पर नौकरी नहीं मिली। लौट आए।"

"लेकिन आप कहानीकार कैसे बने?" मैंने पूछा।

वे बोले—"मेरा कहानी लिखना कैसे शुरू हुआ, यह याद करता हूँ तो विस्मय होता है। विस्मय शायद इसलिए कि औरों की बात मैं नहीं जानता, मेरा आरम्भ किसी तैयारी के साथ नहीं हुआ। जब तक चाहता रहा कि कहानी लिखूँ तब तक सोचता ही रह गया कि कैसे लिखूँ और जब लिखी गई तब पता भी नहीं चला कि वह कहानी है। पहली जो कहानी लिखी गई वह यों कि एक पुराने साथी थे, जिनका ब्याह हुआ था। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्रिकाएँ पढ़ती थीं और चाहती थीं कि कुछ लिखें, जिससे उनका लिखा छपे और साथ तस्वीर भी छपे। हम भी मन-ही-मन यह चाहते थे। दोनों ने सोचा कि कुछ लिखना चाहिए। तय हुआ कि अगले शनिवार तक दोनों को अपना लिखा हुआ एक दूसरे के सामने पेश करना होगा। शनिवार आया और देखा कि उनकी कहानी तैयार थी पर हम कुछ न लिख सके। भाभी कुछ-न-कुछ लिख लेतीं और हम सोचते कि हमसे कुछ न होगा। एक दिन घटी एक दिलचस्प घटना को हमने ज्यों-

का-त्यों कागज पर उतार डाला। जाकर सुनाया भाभी को। वह घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी। भाभी लजाई भी, मगर खुश भी हुई। मैं मानता हूँ कि वह मेरी पहली कहानी थी।

दूसरी, तीसरी और चौथी-पाँचवीं कहानी का बानक यों बना कि सन २०-२१ की गर्मा-गर्म देश-सेवा के बाद मैनपुरी-षड्यंत्र-केस के श्री कालीचरण शर्मा २६-२७ तक खाली हाथ हो गए। दिल्ली आए और नौकरी की तलाश की गई। दो जगहें मिलीं। तय हुआ कि जिसके मन के अनुकूल जो जगह हो, ले ले। उन दिनों रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' निकालते थे। उसमें हमें डिप्टी-मल जैन द्वारा जगह मिल गई। काम केवल चिट्ठियाँ लिखने का था। विज्ञापन भी बनाने थे। ७०) वेतन मिलता था। कहा गया कि दान-भावना से वेतन कम कीजिए। नौकरी छोड़ दी। उन्हीं दिनों 'महारथी' में आए श्री विजयसिंह पथिक और श्री भगवान-दास केला। पथिकजी से कालीचरण के लिए कहा तो उन्हें जैतो-पाठ-शाला (राजस्थान) में शायद २५) की हैडमास्टरी मिल गई। उन्होंने तीसरी-चौथी कक्षा के विद्यार्थियों को लेकर 'ज्योति' नाम की एक हस्तलिखित पत्रिका निकाली। उन्होंने कहा, 'कुछ भेजो।' उनकी चिट्ठी का जवाब देता और वह लम्बा हो जाता और सूझ में जो उलझना आँक देता लिखने का ख्याल नहीं था। कोई छः महीने में मित्र का वहाँ से पत्ता कट गया। वे आए तो 'ज्योति' की प्रतियां लेते आए। उन्हें हमारे एक हितैषी बुजुर्ग आनन्द भिक्षु सरस्वती ने देखा। कलकत्ता जाते हुए वे उस पत्रिका के अंकों को भी साथ लेते गए। दो महीने बाद लायब्रेरी में 'विशाल भारत' के पन्ने उलटते हुए देखता क्या हूँ कि 'श्री जिनेन्द्र' की कहानी छपी है—'खेल'। बस तब की बात न पूछिए। दिल उठता था और गिरता था। जाने किस घड़ी में वह कहानी लिखी गई थी 'खेल' कि अब जगह-जगह उसे छपी

देखता हूँ और सुनता हूँ कि वह 'एक चीज़' है। उसके बाद 'चोरी' और 'फोटोग्राफी' कहानियाँ लिखीं। कुछ दिन के बाद न जाने कैसे एक ४) का मनीआर्डर आया। मनीआर्डर क्या आया? मेरे आगे तिलस्म खुल गया। २३-२४ वर्षों को दुनिया में बिताकर भी क्या तनिक उस द्वार की टोह पा सका था कि जिसमें से रुपये का आवागमन होता है। 'विशाल भारत' के मनीआर्डर से मेरी माँ को भी कम विस्मय नहीं हुआ और मुझे तो लगा कि मेरे निकम्मेपन की भी कुछ कीमत है।

उसके बाद हिन्दी-प्रचारिणी-सभा (जिसकी बैठकें महारथीजी के यहाँ होती थीं।) में पढ़ने के लिए कुछ कहानियाँ लिखीं। उसी समय मैंने एक कहानी लिखी थी, 'देश-प्रेम'। उस कहानी में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं, जो भारत माता की याद अंग्रेजी में ही कर पाते हैं। वह कहानी श्री रामचन्द्र शर्मा ने ले ली। तीन-चार महीने तक न छपी तो चिन्ता हुई। पूछने पर मालूम हुआ कि श्रीदेवीप्रसाद धवन 'विकल' उसे शुद्ध करने ले गए थे और शुद्ध करके हाल ही में भेजी है। मैंने उस रचना को सम्पादक से माँगा तो उन्होंने मुझे दे दिया। मैंने सम्पादक से कहा कि यह रचना मुझे दे दीजिए, क्योंकि यह शुद्ध तो है पर मेरे नाम से नहीं छपेगी। सम्पादक बोले—'आप ले तो जा सकते हैं पर वादा कीजिए कि कल शाम को ४ बजे तक आप दूसरी कहानी दे देंगे।'

वादा करना कठिन था पर 'देश-प्रेम' को उस विशुद्ध दशा में छपाने को मन राजी न हुआ। इसलिए वादा करके चला आया। शाम को खाना खा-पीकर मैं खाट पर लेटा पर नींद नहीं। कहानी की चिन्ता सिर पर सवार। मैं तारे देखता पड़ा था। ऐसे समय मुझे नेपोलियन का ध्यान आया। नेपोलियन क्या सफल हुआ? क्या उसका जीवन सार्थक हुआ? क्या वह तृप्ति

लेकर गया ? क्या उसमें अपने आदर्श को देखा जा सकता है ? इन्हीं ख्यालों में सूझा कि एक पात्र बने, जो नेपोलियन में अपना आदर्श डालकर चले। दूसरा पात्र जो आदर्श अपने में रखे उसके बारे में गुस्वर न हो। लेकिन दोनों में घनिष्ठता हो। ऐसे विचारों से टूटे-टूटे नींद आ गई। सवेरे रात के अस्पष्ट विचारों का सहारा लेकर लिखने बैठा तो 'रपट्रा' कहानी बन गई। उसके अन्य पात्रों के नाम रखने के लिए मैंने कल्पना से काम लिया। हस्तिनापुर गुरुकुल में नेसफील्ड ग्रामर पढ़ाई गई थी। उसमें प्लेटो, लेरेंजो, वेंजिलो आदि नाम पढ़े थे। वे नाम रख लिए। सिपियो फेमिली के आधार पर सिपियो नाम रख दिया। गरीबाल्डी डाल दिया। मेजिनी की याद आई पर पवित्र समझकर उस पर हाथ न डाला। स्त्री-पात्र की जरूरत हुई तो मेरिथ ई नाम रख लिया। यों कहानी बनी और मैं उसे जेब में रखकर चल दिया--पैदल। ट्राम के पैसे थे नहीं। फतहपुरी पर मुझे भाई ऋषभचरण मिले। फूली हुई जेब से कागजों की रील निकालकर उन्होंने कहा- 'ओफ्फोह। कहानी लिखी है। कहाँ लिये जा रहे हो ?' मैंने बताया 'अमुक कार्यालय में लिये जा रहा हूँ। मुझे ५) की जरूरत है। इसे देकर रुपये माँगूंगा।'

भाई ऋषभचरण ने सलाह दी कि मैं ऐसा न करूँ, क्योंकि इसमें कोई लाभ नहीं होगा। उनकी बात सच थी। शर्मा जी ने असमर्थता दिखाई। मैं कहानी लौटाकर चला आया। वह कहानी मैंने भेज दी प्रेमचन्द जी को। छपने के लिए नहीं देखने के लिए। कहानी सधन्यवाद वापस आ गई पर अन्त में लाल स्याही से लिखा था-'प्लीज आस्क वेदर दिस इज ए ट्रांसलेशन ?' (कृपाकर, पूछिए, यह अनुवाद है क्या ?) इस पर मैंने कुछ न लिखा, 'अन्धे का भेद' नामक दूसरी कहानी भेज दी। उस पर प्रेमचन्द जी का पत्र आया कि वह विशेषांक के

लिए सुरक्षित है। वह छपी तो उसे श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने पढ़ा और पता लगाकर प्रशंसात्मक पत्र लिखा। उन्होंने मेरी कहानी को 'शरत्' और 'परशुराम' दोनों का सम्मिलित रूप बताया था। मैंने उत्तर में शायद तुलना को ओटने से इन्कार किया, जो उन्हें अच्छा नहीं लगा।

इसी प्रकार एक कहानी और लिखी। लिखकर छोड़ दी। पड़ी रही फिर लिखी। ऐसे 'परख' बन गई, जो महीनों पड़ी रही। आखिर माँ से एक रुपया माँगकर उसे बम्बई प्रेमीजी के पास भेज दिया। वे उसे छापने को तैयार हो गए। शर्तों के लिए लिखा। हम क्या जानते थे। प्रेमचन्द जी से पूछा। उन्होंने रुपया पेज कहा। वह लिख दिया। वही प्रेमचन्द जी ने भेज दिया।"

कहानियों की चर्चा आगे बढ़ी तो कहानी में कल्पना और यथार्थ का प्रसंग छिड़ गया। इस विषय में जैनेन्द्र जी ने कहा—"मेरे निकट यथार्थ का उतना मूल्य नहीं जितना कल्पना का है। वैसे भी यथार्थ तो कुछ है नहीं। कल्पना ही का सब खेल है। हम अपनी 'अन्धे का भेद' कहानी को ही ले लें। जब हम पहाड़ी धीरज पर रहते थे तब हमारे यहाँ एक अन्धा आता था। मेरी भानजी ने कहा, 'मामा, इस पर कहानी लिखो।' कहानी शुरू तो हो गई ऐसे ही कि वह अन्धा भिखारी आता है पर अब आगे कैसे बढ़े? आगे बढ़ने के लिए कल्पना को कुछ तो उस अन्धे के अतीत की ओर बढ़ने दिया, कुछ भविष्य की ओर। उसके बीवी-बच्चों का अतीत गढ़ा और कहानी बन गई। कहानी इतिवृत्त ही तो है। यानी उसमें स्थिति से स्थित्यन्तर अर्थात् कुछ जीवन की गति होनी चाहिए। काल का कुछ तनाव, कुछ स्पन्दन अनुभव हो। वही तो कहानी का रस है। यह घटना द्वारा अनुभव कराया जाय या चाहे तो बिना घटना द्वारा कर दिया जाय। चुनाँचे ऐसी सफल कहानियाँ हैं, जिनमें खोजे

तो घटना तो है ही नहीं, फिर भी रस भरपूर है। 'नीलम देश' वैसा ही प्रयास है। उधर 'स्पर्द्धा' की समूची कहानी जैसे इस दृष्टि के प्रतिपादन के लिए है कि आदर्श को किसी बाहरी वस्तु में डाल-कर और फिर उसके प्रति अपना रोमांटिक सम्बन्ध बनाकर चलना सफल नहीं होगा वरन् आदर्श की तो मौन एवं तत्पर आराधना ही फलदायक हो सकती है। अमुक आदर्श को बाहर मूर्त करके देखने की पद्धति आदमी को बना नहीं सकती, बिगाड़ ही सकती है। आदर्श का अनुकरण करने से कुछ बनता नहीं, विफलता ही हाथ आती है। इसी से पात्र निकले और कहानी बनी। मेरे मन से उसमें चरित्र प्रधान नहीं, परिणाम और भाव प्रधान हैं। यथार्थ के अवयव यों कहानी में पड़े ही रहते हैं। कहानी के उपकरण उन्हीं से जुटते हैं। जैसे 'एक रात' कहानी में विलासपुर आता है। सुदर्शना आ जाती है। यह सुदर्शना वह नाम है, जिसके साथ हमारे सम्बन्ध की बात चली थी, पर हमें नापास कर दिया गया। न जाने कैसे घटित घटना और जीवित पात्र आकर कहानी बना देते हैं और कल्पना में एकरस हो जाते हैं। कुछ कहानियाँ तो ऐसी होती हैं कि जहाँ न यथार्थ वस्तु होती है न कल्पना के पात्र। एक बार मैं संध्या-नन्तर अकेले मैदान से जा रहा था कि मुझे अपनी चेतना पर यकायक बोझ मालूम हुआ था। कहीं कुछ नहीं फिर भी डर लगा। मैं तेज चलने लगा और मेरी साँस फूलने लगी। कोरा डर था पर मेरी जान सुन्न होने लगी। मैंने उसी कोरे डर का सचेतन भाव से पुनः स्पर्श पाने के लिए एक कहानी लिख दी। उसमें न पात्र हैं न घटनाएँ, वातावरण है। उसमें प्राणी हैं तो प्रेत के मानिन्द जिनमें देह है नहीं और वे निरे भाव के बने हैं। ऐसी कहानियों में सोते पेड़, बिछी घास, बहता पानी, सूना विस्तार, रुका वायु, टिका आसमान, मटियाला अँधियारा, यही जैसे

व्यक्तिगत संज्ञा धारण कर लेते हैं। ऐसे में धरती आसमान से बातें करने लगती है और जो अचर हैं वे भी मनुष्य की वाणी बोलने लगते हैं।"

"तो क्या आप ऐसी अयथार्थ कहानियों को ही श्रेष्ठ मानेंगे?" मैंने पूछा।

उन्होंने कहा—"जहाँ पेड़, पौधे और चिड़ियाँ आदमी की बोली बोलते हैं, वह कहानी क्या अयथार्थ है? क्या वह ऊपर से असंभव, इसलिए एकदम व्यर्थ वस्तु है। हो सकती है किसी के लिए असंगत और अयथार्थ। और किसी के लिए एकदम व्यर्थ भी हो सकती है। डर भी तो अयथार्थ ही है, लेकिन जो डर के मारे मर तक गया है उस की मृत्यु ही क्या उसके निकट उस डर के अत्यंत यथार्थ होने का प्रमाण नहीं है। उस दृष्टि से मैं मानता हूँ कि वातावरण-प्रधान कहानियाँ अनिष्ट और अनुपयोगी नहीं हैं। बल्कि चूँकि उनमें हाड़-माँस की देह नहीं है, इसलिए हो सकता है कि उनकी उम्र भी शायद अधिक ही हो। देह मर्त्य है, अमर आत्मा है। इससे जिनमें दैहिकता स्वल्प और भावात्मकता ही उत्कट है उन कहानियों में स्थायित्व भी अधिक होगा, ऐसा मानने को मेरा जी करता है। यही कारण है कि पुराणों की देवता और राक्षस वाली कहानियाँ, जातक-कथाएँ और ईसप की पशु-पक्षियों की वार्ताएँ हमारे जीवन में फैलकर समा गई हैं। अतः यथार्थता का आबन्धन और अवलेप, जिस पर जितना कम हो वह कहानी समय की छलनी में छनती हुई उतनी ही श्रेष्ठ ठहरे तो मुझे अचरज न होगा।"

"इस दृष्टि से आप अपनी कृतियों में से किस कृति को सर्व श्रेष्ठ मानते हैं?"

"मैं इसके लिए कोई चुनाव नहीं कर सकता। कोमलता में 'सुनीता', सशक्तता में 'त्याग-पत्र', गहनता में 'कल्याणी' और

ताजगी में 'परख' अपनी-अपनी जगह पर पसंद की जाती है । 'नीलम देश' कम-से-कम वास्तविक है, एकदम अवास्तविक । इसलिए हमारे अधिक निकट है । इसकी चर्चा शायद ही कहीं हुई हो । वह किसी बाहरी अवस्था का बोध या मत देने के लिए नहीं बनी । वास्तव उसमें कुछ है ही नहीं । देश है नीलम का, कन्या है तो कहीं उसके माता-पिता का आभास नहीं । सहस्रों वर्ष से ऊपर उसकी आयु मिली है । इस प्रकार वहाँ कुछ भी वास्तविक नहीं है । उस कथा का सारा कलेवर मेरी अपनी भावना से बना है । उसमें मैंने श्रद्धा की स्थापना की है । बुद्धि-व्यापार बिना श्रद्धा के सत्य की उपलब्धि में अन्त में लँगड़ा ही ठहरता है, बुद्धि की इस सीमित सार्थकता और उसके आगे उसकी व्यर्थता को जतलाने के लिए कहानी लिखी गई 'व्यर्थ प्रयत्न' । उसके जवाब में यह कहानी बनी 'नीलम देश' । पहली में 'नकार पक्ष' था तो दूसरी में 'स्वीकार पक्ष' । मैं इस कहानी को अपनी बुनियादी वृत्ति की परिचायिका मानता हूँ ।"

पहले दिन हमारी बातचीत यहीं समाप्त हो गई । दूसरे दिन उन्होंने मुझे प्रातःकाल ६॥ बजे आने के लिए कहा । वे रहते हैं दरियागंज और मैं ठहरा था श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' के यहाँ पहाड़ी धीरज पर । दरिया गंज और पहाड़ी धीरज का फासला कम नहीं है । फिर मेरे सिर में दर्द भी था और कुछ थकान भी लेकिन मैंने ठीक ६॥ बजे पहुँचने का वादा कर दिया । दूसरे दिन न जाने कैसे प्रातः काल ३॥ बजे ही मेरी आँख खुल गई । कोशिश की, पर नींद नहीं ? कुछ देर बिस्तर पर पड़ा रहा और अन्त में विवश होकर उठ बैठा । कुछ पढ़ा-लिखा और ठीक ५ बजे घर से तैयार होकर पैदल ही चल पड़ा । ६ बजते-बजते मैं दरियागंज जा पहुँचा और एक चाय की दुकान पर चाय पीने के बहाने बैठकर उनकी प्रतीक्षा करने लगा । सवा छः बजे के

लगभग सैने देखा कि जैनेन्द्र जी नंगे सिर, बदन में कुर्ता, धो-लगी धोती और पैरों में बाटा के सफेद फ्लीट जूते पहने टहल-कर चले आ रहे हैं। मुझे अपने समय की पाबन्दी पर बड़ा गर्व है पर जैनेन्द्र जी की समय की पाबन्दी के सामने मुझे सिर झुका लेना पड़ा।

मैंने सुन रखा था कि जैनेन्द्र जी किताबों की बात तो दूर अखबार तक इसलिए नहीं पढ़ते कि उसमें मौलिक चिन्तन विकृत हो जाता है। बड़ी अजीब-सी बात है, क्योंकि जैनेन्द्र जी का अध्ययन कम हो, ऐसा लगता नहीं है। पर बात उनके विषय में ऐसी ही फैल गई है। मैंने था तो इस शंका का समाधान कर लेना चाहा और आज की चर्चा इसी विषय को लेकर आरंभ हुई। उन्होंने इस सम्बन्ध में मुझसे कहा—"पढ़ तो लेता हूँ अखबार, पर मानता हूँ कि वह व्यसन है। मौलिक चिन्तन नहीं जानता क्या बला है? चिन्तन वस्तु-निरपेक्ष होकर पागलपन तक पहुँच सकता है, इसलिए बाहर की वस्तु-परक यथार्थता मिथ्या नहीं है। उसकी विमुखता में सारा चिन्तन निष्फल रह जायगा। बाहर से बचकर जाना कहाँ है। सिर्फ अपने को औरों से अलग करके जाना नहीं जा सकता, औरों में जाना जा सकता है। इसलिए कैसे कहूँ कि पढ़ना-लिखना बेकार है, पर यह जरूर मानता हूँ कि किताबें दूसरी हैं, दुनिया पहली है। पढ़ना असली दुनिया का है। किताबें उसमें मदद देती हैं। लेकिन अगर सत्य किताबों में समझ लिया जायगा और दुनिया में सिर्फ झूठ तो ऐसे उपलब्धि नहीं होगी और जीवन समृद्ध न बनेगा। और ऐसा होता है। सिद्धान्त-ग्रन्थों और तत्त्व-शास्त्रों में लोग सत्य को बँधा मान लेते हैं तब शास्त्र और इन्सान का विरोध हो जाता है। इसलिए मैं किताब और उसके पढ़ने को अंतिमता नहीं देना चाहता। वह सहायता के लिए है इसलिए

हैं कि उनमें से पाये हुए को फिर प्रयुक्त करके देखें और देखें कि दुनिया के जीवित व्यापार में भी वह प्रमाणित है कि नहीं। तभी मानें, 'बाबा वाक्यम् प्रमाणं' करके नहीं।"

पढ़ने की बात चली तो मैंने उनकी रुचि के लेखकों के विषय में भी पूछ लिया। इस पर वे बोले—"रुचि शायद मेरी पैनी नहीं है, यानी सब ओर फैली है। कुछ नाम छाँटकर कह देने से भ्रम भी हो सकता है पर उसकी झलक देने का भी दूसरा उपाय नहीं है। डास्टोवस्की मुझे अच्छे लगते हैं। टाल्स्टाय और शरच्चन्द्र भी प्रिय हैं। और भी अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं। तुलना मुश्किल है, शायद रस बदलते जाना चाहिए। मीठा अच्छा लग सकता है पर अघा जाने पर नमकीन की चाह होती है। यही बात समझिए।"

"लेकिन यह तो आपने विदेशी लेखकों और देश की प्रांतीय भाषाओं के लेखकों की बात कही। अपने हिन्दी-लेखकों में आपको कौन-कौन प्रिय हैं?"

"सारे क्षेत्र को मैंने खखोला नहीं है। प्रेमचन्द सम्पर्क में ही आए। मैथिलीशरण का 'साकेत' और 'यशोधरा' पढ़ते मैं विभोर हो रहा। सुदर्शन और सियाराम मुझे सदा विश्वसनीय लगे। अज्ञेय का 'शेखर' पाण्डुलिपि में ही पढ़ा था और उसने असर किया। यशपाल की रचनाएँ रस देती हैं, यद्यपि भड़काती भी हैं। भाषा के बारे में मैं अपनी अजानकारी पर खिन्न रहता था अब तो खेद छोड़ दिया है। कंगाल को जो मिले वही उसकी पूँजी है। इस भाव से अब तो भाषा में चले चल रहा हूँ, लेकिन शुरू में इलाचन्द्र जोशी की 'घृणामयी' से अपना कोश भरना चाहा था। सन् '३० में प्रेमी जी और प्रेमचन्द जी जेल में कुछ पुस्तकें भेजते रहते थे। वहाँ वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़ कुण्डार' पढ़ा था और मुन्शी का 'पृथ्वी वल्लभ' भी। दोनों पसंद आए

'पृथ्वी वल्लभ' ने कुछ देर पकड़े रखा। मुन्शी की और भी रचनाएँ देखीं हैं। प्रबल हैं। प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' भी वहीं मिला था और 'कंकाल' भी। चिन्तन की गहनता मिली, प्रखरता की माँग रह गई। कौशिक जी की पुस्तकें मुझे नहीं मिलीं लेकिन कहानियां जहाँ-तहाँ देखता था। उनकी स्वस्थ विनोद-वृत्ति गम्भीरता में भी नहीं छूट पाती थी और यह बड़ा गुण था। इसी समय या इसी के आस-पास 'चित्रलेखा' देखी और उसका उठान शानदार लगा।"

हिन्दी के कुछ ही कथाकारों के विषय में उन्होंने अपनी सम्मति प्रकट की थी। इससे मेरी तृप्ति नहीं हुई। इसलिए मैंने अश्क, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, पहाड़ी, राधाकृष्ण, रावी आदि के विषय में उनका मत जानने की इच्छा प्रकट की। इन लेखकों के विषय में मत देते हुए उन्होंने कहा—"मैं उतना सावधान पाठक नहीं हूँ। समीक्षा की दृष्टि से भी नहीं पढ़ता। अश्क कहीं जाएँ, अपने अनुभव के आधार को नहीं छोड़ते। यह अच्छा है और रचना को सार-शून्य नहीं होने देता। रांगेय जी की बड़ी पुस्तक कोई अब तक पढ़ने का अवसर नहीं आया। कहानियाँ कई देख गया हूँ। बाढ़ का समय मालूम होता है। बरसात थमे तब धारा किनारा ले और अन्दाज बँधे। विष्णु जी तो दिल्ली के ही हैं और उनका काफी लिखा हुआ मैं पढ़ता रहा हूँ। भावना की ओर से उन पर मैं निर्भर हो सकता हूँ। अच्छा लिख रहे हैं और मुझे उनसे आशा है। पहाड़ी तो लगभग साथी रहे हैं। पहाड़ों पर एक बादलों से छाया-सा कुहरा रहता देखा है। कुछ वैसा पहाड़ी के साथ हो तो अचरज नहीं। उसकी भी शोभा है। पर वह अलग है। राधाकृष्ण को घोष-बोस-बनर्जी-चटर्जी के रूप से जानता आया हूँ। मौलिक हैं, ताजा हैं, मजेदार हैं, पर सामयिक हैं और सामयिकता में रहना क्या जरूरी

है ? राखी का लिखा मुझे प्रिय हुआ है। उसमें ताजगी है, आग्रह नहीं, कटुता नहीं और एक स्वास्थ्य है, जो उपादेय लगता है !"

"और अति आधुनिक पीढ़ी के कथाकारों के विषय में आप क्या कहते हैं ?"

"अति आधुनिक की बात करेंगे, लेकिन मुझे एक नाम याद आ गया रामकृष्ण देव गर्ग का। गिनती की कुछ कहानियाँ उनकी होंगी; लेकिन एक-एक उनमें मुझे स्मरणीय लगी। एक हो गए हैं हरदयाल 'मौजी'। न कुछ उम्र में ही टी० बी० में चले गए। थोड़ा लिखा है, पर जो लिखा अनोखा है। मुझे उनकी बार-बार याद आती है। इतने सकोची कि क्या कहूँ ? इसी में सब बोझ लेकर नीचे से नीचे बने रहे और आखिर कुचलकर मर जाना स्वीकार कर लिया। लेकिन कडुए नहीं हुए। कडुवाहट जो आई, हल्के मीठे व्यंग में परिणत करके कलम से निकालते रहे। रामचन्द्र तिवारी भी दिल्ली में रहते हैं। पैनी बुद्धि है और पैनी सूझ। उनकी रचनाएँ मैं गणनीय मानता हूँ। उनमें एक विशेष प्रकार की वैज्ञानिक तर्क-संगति रहती है। मन्मथनाथ गुप्त को भी किसी तरह भूला नहीं जा सकता। मन्तव्य ऊपर न आ चढ़े तो उनसे खूब सम्भावनाएँ हैं।

अति आधुनिक को सुविधा है। भाषा भर आई है, मँज आई है। अब कहने की शैली को—तर्ज को मौका है। इस मैनरिज्म की तरफ आधुनिकों का अधिक रुख है। शैली आप ही बनेगी। बनाने से जो बनती है, शायद ऊपरी रहती है। मुझे यह शिकायत है, और इसीलिए है कि मैं स्वयं अपने को आधुनिकों से बाहर मानना नहीं चाहता।"

मैनरिज्म की बात पर मैंने उनसे कहा कि इधर अज्ञेय जी के 'शेखर' के बाद आत्मकथात्मक उपन्यासों का भी एक सिलसिला चल पड़ा है, जिसमें श्री उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा'

और डॉक्टर देवराज का 'पथ की खोज'-जैसे उपन्यास आते हैं। आपका इस प्रकार के उपन्यासों के बारे में क्या मत है। इस विषय में जैनेन्द्र जी ने कहा—"मैं काफी अपढ़ हूँ और आलोचक नहीं हूँ फिर भी इतना कह सकता हूँ कि ये सब उपन्यास की पूरी माँग का उत्तर नहीं देते। उनमें खोज है, अध्ययन है, पर कहानी-उपन्यास में पाठक कुछ उत्साह, प्रेरणा और रंजन भी चाहता है।"

अन्य उपन्यासों की चर्चा चलने पर उन्होंने कहा—"इधर जो दूसरे उपन्यास मैं पढ़ पाया हूँ उनमें 'वैशाली की नगर वधू' मुझे बलिष्ठ मालूम हुआ है।"

उपन्यासों की चर्चा और आगे बढ़ी तो सहसा मुझे जैनेन्द्र जी की नारी-भावना का ध्यान आ गया। और उनके उपन्यासों में चित्रित नारी के आत्मपीड़न को दृष्टि में रखकर मैंने पूछा--"आपके उपन्यासों तथा कहानियों में सर्वत्र नारी को आत्म-पीड़ित ही क्यों चित्रित किया गया है? वह आत्मपीड़न भी ऐसा है, जिसे नारी स्वयं स्वीकार करती है और उसी में जीवन की सार्थकता मानती है। इसका कारण क्या है?"

जैनेन्द्र जी ने इसका उत्तर देते हुए कहा—"वस्तुतः असलियत सबके भीतर के स्तर में है, बाहर नहीं। धरती के ऊपर सब कुछ-सुन्दर है, पर भीतर आग है। असलियत में सबके भीतर आग ही है। उस आग में न सुन्दर देख सकते हैं, न असुन्दर; न नैतिक देख सकते हैं, न अनैतिक। आदमी में ऊपर से जितनी नाना प्रकार की विविधता,-विधि-निषेध हैं, असल में वे हैं क्या? धरती में आग है, पर आग दिखती नहीं, दिखती है हरियाली। इसी प्रकार आदमी के केन्द्र में व्यथा या विद्रोह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसकी स्वीकृति में ही सब प्रकार की सुन्दरता या शक्ति या कर्तृत्व की सम्भावना निकलती

सकती है। सामाजिक, सार्वजनिक, राष्ट्रीय ये सारे शब्द तो ऐसा मालूम होता है कि हमारा स्थूल तात्कालिक स्तर हैं। वहीं तक उनकी स्थिति है। आगे ये जाते नहीं, टिकते नहीं। जब कभी भी हम मानव-जीवन के मूल नियम और प्रतिष्ठान को प्राप्त करना चाहेंगे तो सिवाय उसके जिसे हम प्रेम कहते हैं, क्या पायेंगे, कहाँ पहुँचेंगे? इतनी बड़ी धरती को सूरज की ओर का खिंचाव ही धारे हुए है। एक का दूसरे के प्रति। अनेक का अनेक के प्रति जो खिंचाव है उसी में नाना घटनाओं का जन्म होता है। इस खिंचाव को समझने से सैक्स का क्षेत्र कहाँ अलग रह जाता है? वह मानवीय हो जाता है। इस मूल खिंचाव को जब लैंगिक कहते हैं तब मैं तृप्त नहीं हो पाता, न सहमत हो पाता हूँ। लैंगिक पर्सनल और दो व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध है। यूनिवर्सल नहीं है। कला और संस्कारिता सबको इम्पर्सनल तक उठाने में है।"

उन्होंने यह वाक्य समाप्त ही किया था कि उनके छोटे पुत्र नाश्ता लेकर आ गए। जैनेन्द्र जी वैसे घर से नाश्ता करके ही कार्यालय में आते हैं और दोपहर का भोजन यहाँ करते हैं लेकिन मेरे कारण वे बिना नाश्ता किये ही टहलकर सीधे इधर आ गए थे इसलिए नाश्ता यहाँ आया था। नाश्ते में दो पतले-से पराँठे, एक आम के आचार की फाँक और डेढ़ पाव दूध के अलावा और कुछ नहीं था। नाश्ता ही नहीं, उनका भोजन भी अत्यंत सादा रहता है। दाल-चावल और रोटी ही उनका दोपहर का भोजन है। बहुत हुआ तो दही या रायता हो गया। चाय आदि का उन्हें शौक नहीं है। अल्पाहारी भी वे बहुत हैं। हाँ, सुरुचि और शुचिता का ध्यान वे अवश्य रखते हैं। नाश्ता करने से पहले उन्होंने डेढ़ पाव दूध और मँगाया और मुझे भी नाश्ते में शामिल कर लिया। नाश्ता करते समय मैंने उनसे

भोजन और वेश-भूषा में सादगी को महत्त्व देने का कारण पूछा तो बोले—"दोनों में पराधीन हूँ।"

"पराधीनता कैसी?" मैंने पूछा।

वे सरल भाव से बोले—"भोजन जो बनाता है वह देता है। जैसा देता है, ठीक है। कपड़े भी वही देता है। महँगे हो जायँ तो उनमें लगने को पैसा कहीं से कटकर आवे? उसकी आवश्यकता क्या? हाँ, खद्दर पहनता हूँ और वह मँहगा होता है, पर इसके लिए तो मैं अपने को क्षम्य समझ लेता हूँ अगरचे पैसे से खरीदकर पहना जाने वाला असल में खद्दर है नहीं।"

यहीं जब मैंने लिखने के ढंग, दिनचर्या और हॉवी के सम्बन्ध में पूछा तो कहने लगे— 'परख' और 'वातायन' की कहानियाँ स्वयं लिखी हैं। बाद की एक-दो कहानियों को छोड़कर सब लिखाई गई हैं। मेरा लिखना दूसरे पर निर्भर है, मुझ पर नहीं। दूसरा कहे कि लिखानी है तो हो सकता है कि लिखा ले जाय। लिखने वाले को मैं हुक्म तो नहीं दे सकता और उसकी सुविधा-असुविधा के अधीन मुझे रहना पड़ता है। पैसे के बल पर लिखने वाले की उद्यतता मोल ली जा सकती है, पर अनुमति यदि हृदय में न हो तो मैं क्या करूँ? कितना भी पैसा दो उसके जोर से आदमी को मशीन नहीं बनाया जा सकता।

दिनचर्या मेरी कुछ नहीं है। नियमित कोई कार्य नहीं। किसी तरह सवेरे को शाम कर देना ही मेरा काम है। हॉवी मेरी है डे-ड्रीमिंग (दिवा-स्वप्न)। जैसे अफीम का आनन्द अफीम न खाने वाला नहीं जान सकता वैसे ही कर्मठ लोग 'डे-ड्रीमिंग' का मजा नहीं ले सकते।"

व्यक्तिगत और घरेलू जीवन से बातचीत हटकर फिर साहित्य पर आई तो मैंने उनसे राजनीति, समाज और साहित्य पर उसके

द्वारा लिखे गए निबन्धों के विषय में प्रश्न किया—"आपने निबन्ध क्यों लिखे हैं, जब कि कहानी-जैसा अभिव्यक्ति का मार्मिक माध्यम आपके पास मौजूद है?"

उनका उत्तर था— "इसके बारे में मैं क्या कहूँ शब्द द्वारा बात करने का मोह है, उसमें से निबन्ध या प्रबन्ध की सृष्टि होती है। चित्र की व्यंजना द्वारा अधिक सूक्ष्म और प्रवाहशील आकलन किया जा सकता है, उसमें से कथा की रचना हो जाती है। दो चीजें मेरी समझ में आती हैं—दिल और दिमाग। शायद कुछ इनके अनुसार उन अभिव्यक्तियों के प्रकार में भी भेद होता हो। पर उस भेद के तत्त्व-ज्ञान में जाना तो काम आपका है, मेरा तो वह नहीं है।"

इसके बाद साहित्यिकों की दयनीय आर्थिक स्थिति की बात चली, जिस पर वे कहने लगे—"हरिद्वार-सम्मेलन में साहित्यिकों की सहायता का एक प्रस्ताव था। माखनलाल जी ने मुझसे बोलने के लिए कहा। बहुत आग्रह करने पर मैं बोलने के लिए खड़ा हुआ और मैंने कहा कि मैं इस प्रस्ताव के खिलाफ बोलूँगा। उस समय मैंने इस बात पर जोर दिया था कि पैसे की सहायता कुछ नहीं है। साहित्यकार की सबसे बड़ी सहायता तो यह है कि जनता और सरकार साहित्यकार के दान को स्वीकार करें, उसकी अनुभूति से चेतना का मार्ग प्राप्त करें, स्वेच्छित आत्म-पीड़न से जो प्रकाश मिलता है, उस प्रकाश को स्वीकार करें। कारण, आप जिससे रुपया लायँगे, वह रुपया देगा, अपना मोह नहीं देगा। उस मोह के कारण अर्थ-दान के रास्ते वह ऊपर बैठना चाहेगा। महादेवी जी की साहित्यकार-संसद् सरकार से रुपया लेकर खैरात या आश्रय बाँट सके तो वह स्वतन्त्र लोगों के स्वाभिमान को क्या बढ़ायगी? गर्जी लोग आस-पास फिरेंगे और उससे उलझन पैदा होगी। पुरस्कारों से प्रतिभा पुरस्कृत नहीं होती। देश और सरकार

खुद मुश्किल में है। रुपया जो हुकूमत के पास है या जिसके पास है, उसका नहीं वह मिहनतियों का है। लौटकर वह उन्हीं को जाना चाहिए। बीच में उसको लेकर अपना मान उठने वाले लोग चाहे सरकारी हों, चाहे लेखक हों, चाहे सेठ हों, अनधिकृत काम करते हैं। लेखक को ऐसा होते देखना मैं नहीं चाहता। इससे समस्या नहीं सुलझेगी। इतने दरिद्र पड़े हैं, अधभूखे पड़े हैं, बे-हाल पड़े हैं; उनकी तरफ पीठ देकर लेखक क्या यह चाहते हैं कि बड़े-बड़े महलों और खुशहालों की तरफ मुँह रखें। मैं समझता हूँ, इसका समाधान स्वेच्छित दरिद्रता में है। लेखक उसी तरह का ब्राह्मण और फकीर बन जाय, तब कुछ आशा है।"

"तो फिर साहित्य के सहारे कैसे जिया जाय?"

"जिया जा सकता है इस अर्थ में कि वह पढ़ा जाता है और काफी लोग उसके लिए चाव रखते हैं। वे लोग साहित्य-कार को अवश्य जिन्दा रखेंगे। जब एक व्यक्ति में दस हजार व्यक्ति रुचि रखते हैं तो वह कैसे मरेगा। आज की परिस्थिति तो इसलिए है कि लेखक और पाठक के बीच विषम सामाजिक जीवन है। हजारों पाठकों का प्रेम-भाजन होते हुए भी अगर किसी लेखक को अभाव में रहना पड़ता है तो यह जीता-जागता प्रमाण है इस बात का कि समाज-रचना और अर्थ-रचना सही नहीं है। सहज स्नेह और सहानुभूति के प्रवाह को नष्ट करके वह जी रही है। यह हालत अधिक नहीं सही जायगी। मनुष्य की अन्तरस्थ सहानुभूति अपने लिए मार्ग निकाले बिना रहेगी नहीं। बीच में खड़ी अड़चनों को आगे-पीछे गिरना होगा, यह अवस्था मुझसे छूटती नहीं।"

समाज की विषम स्थिति की बात चलने पर मैंने नई समाज-रचना के लिए कम्युनिज्म का उल्लेख किया तो वे बोले—"आज

की मुख्य चिन्ता जिलाये रखने की है और इसका जिम्मा लेता है कम्युनिज्म। लेकिन जब रोटी-कपड़े की चिन्ता न रह जायगी तब कम्युनिज्म की भी चिन्ता न रहेगी। आज रोटी-कपड़े की बहुतायत से अधिक चिन्तन की शुद्धि की आवश्यकता है। रोटी-कपड़े की बहुतायत में से महान चिन्तन पैदा होता दीखता नहीं है। लखपती, करोड़पती ऊँचे विचार के लिए कब प्रसिद्ध हुए हैं। आदमी का चिन्तन इसी शर्त पर ऊँचा उठेगा कि वह दुनियादारी में आम तौर पर समझे जाने वाले 'स्टैण्डर्ड आफ लिविंग' में ऊँचा न उठना चाहे। जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध की चिन्ता महत् विचार कैसे पैदा कर सकती है! इसलिए प्रयत्न करना होगा कि मानव-चिन्तन नित्य-निमित्त की आवश्यकताओं में ही न बँधा रहे बल्कि आवश्यकताएँ जीवन के सहज श्रम से उसे मिलती रहें।"

और मार्क्सवाद के सम्बन्ध में उनका मत था—"साहित्यकार को मार्क्सवाद था कि कोई वाद बहुत दूर तक सहायता नहीं पहुँचा सकता। सहायता जो उसके सामाजिक व्यक्तित्व को मिलती है, आवश्यक रूप से लेखनी को नहीं पहुँचती। वाद को अपनाकर आत्मा को छोड़ना होगा। वह लेखक कैसे हो सकता है, मैं जानता नहीं। जब यह होता है, बात बिखर जाती है।"

इस प्रसंग को आगे न बढ़ाकर जब मैंने उनसे सफल कथाकार बनने के उपायों के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—"सफल कथाकार बनने के लिए दुश्मन तलाश करना चाहिए। उस पर लिखकर उसी को सुनाना चाहिए। आप उसमें अपना विरोध तो प्रकट किये बिना रह न सकेंगे पर आवश्यक रूप से विनम्रता और शिष्टता आ जायगी, सीधा प्रहार बच जायगा। इसी में से व्यंग उत्पन्न होगा, शैली में वैशिष्ट्य आ जायगा। सत्य के साथ आर्जव का मेल होगा। आपकी रचना सुनकर

दुश्मन कम दुश्मन बने और मित्र बनता चला जायगा, यद्यपि मूल असम्मति ज्यों-की-त्यों बनी रहे, तो समझना चाहिए कि रचना सफल है।"

जैनेन्द्र जी स्पष्टवादी, सरल और ईमानदार व्यक्ति हैं। बात करते समय उनके मस्तक की रेखाएँ और सुदूर विचार-लोक में खोई आँखें इस बात का प्रमाण देती हैं कि इस व्यक्ति के पास प्रत्येक समस्या का मौलिक विश्लेषण और उसे विश्वसनीय ढंग से प्रकट करने की शक्ति है। उनके घर और कार्यालय में कहीं भी पुस्तकों अथवा पत्र-पत्रिकाओं की सजावट नहीं है, जो यह बताये कि यह व्यक्ति अध्ययनशील है और न चीजें ही यत्र-तत्र बिखरी मिलती हैं, जो यह बतायें कि यह लापरवाह और फक्कड़ कलाकार है। जैसे वे एक तख्त से अपने ड्राइङ्ग-रूम को सजा सकते हैं और चन्द कपड़ों की अपने शरीर के लिए आवश्यकता समझते हैं वैसे ही वे अपने कुछ विचारों से दीन-दुनिया की समस्याओं का हल प्रस्तुत कर देते हैं। वे आदर्शवादी हैं, पर उनके आदर्श जड़ नहीं हैं। उनमें संवेदनशीलता पर्याप्त मात्रा में है। शैली के अभिनव प्रयोगों से वे हिन्दी में प्रथम कोटि के शैलीकार माने जाते हैं, पर उन्हें टेकनीक शब्द से घृणा है। उनकी साधना कबीर की 'सहज' साधना है। सप्रयास वे कोई काम नहीं करते, स्वाभाविक रूप से जो हो जाय सो ठीक है। वे कम हँसते हैं पर जब हँसते हैं तो पूर्ण निश्छलता और गहराई के साथ। उनके कथन का ढंग कितना ही तीखा हो पर वह व्यंग्यात्मक होता है। वे किसी के कार्य के महत्त्व को नष्ट करना या कम करना पसंद नहीं करते वरन उसकी त्रुटि की ओर शालीनता से व्यंग करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। अहता उनके स्वभाव में रत्ती-भर नहीं है। आडम्बर-हीन सरलता ही उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की शक्ति का मूल कारण है। वे कांग्रेस-

सत्याग्रही रह चुके हैं, कई बार जेल जा चुके हैं, पर क्रियात्मक राजनीति उनके स्वभाव से मेल नहीं खाती। वे शतरंज और कुश्ती से बचपन में बड़े माहिर थे और तैराक तो ऐसे थे कि एक बार महिलाश्रम की एक छात्रा को अपनी जान खतरे में डालकर डूबने से बचा लाए थे। अपने साहित्य में वे स्त्री को भले ही नंगा करके देख लें, पर व्यक्तिगत जीवन में दार्शनिक और चिन्तक ही बने रहते हैं। इस प्रकार वे रहस्यमय व्यक्ति हैं, जिनकी थाह पाना कठिन कार्य है। साहित्य के लिए वे दूसरों की अनुभूति से भी काम चला लेते हैं। वे अपने पात्रों को बौद्धिकता से देखते हैं, पर फिर भी उनका चित्रण ऐसा करते हैं कि उनके प्रति पाठक को सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। वे वर्षों तक नहीं भी लिख सकते हैं, लेकिन जब लिखना आरंभ करेंगे तो एक साथ दो-दो उपन्यास या प्रतिदिन एक-एक कहानी 'डिक्टेट' कराते जायँगे। जो लोग समझते थे कि जैनेन्द्र की साहित्यिक मृत्यु हो गई 'सुखदा' और 'विवर्त' उपन्यासों ने उनकी समझ को झूठा साबित कर दिया। इन उपन्यासों में वही ताज़गी मिलती है, जो उनके पहले उपन्यासों में थी। जैनेन्द्र के पास कहने के लिए कुछ है और वे उसे आकर्षक ढंग से कह सकते हैं, यही उनकी विशेषता है। इधर वे जमकर लिखने की सोच रहे हैं और आशा है कि भविष्य में वे हिन्दी को और भी अच्छी कृतियाँ दे सकेंगे।

जून १९५७]

ही मैंने उन्हें देखा था। सभापति-पद से उन्होंने कथा-साहित्य की प्रगति पर जो भाषण पढ़ा था, उसमें ऐसा खरापन और तीखापन था कि कुछ लोग, जो वहाँ बैठे थे, तिलमिला उठे थे। यशपाल जी सहज भाव से ही वे बात कह गए थे बिना संकोच या झिझक के, दूसरे क्या कहेंगे इसकी तनिक भी चिन्ता किये बिना। उनकी दृढ़ता और निर्भीकता का तो मैं तभी कायल हो गया था और मिलने के लिए अवसर की खोज में था कि इस वर्ष लखनऊ जाने पर उनसे भेंट करने और उन्हें निकट से देखने का अवसर मिला। गेबरडीन की खाकी पेंट और बूट, शरीर पर नीले रंग की कमीज, सफाचट दाढ़ी-मूँछ, घनी भौंहें, जो आधे से अधिक सफेद थीं, नंगा सिर, मुँह में सिगार : इस वेश में मुझे वे पुलिस-अफसर से दिखाई दिये। उनका चेहरा रौबीला है और सबसे ज्यादा आतंकित करने वाली उनकी भौंहें हैं। आँखें उनकी बड़ी पैनी और दूर तक घुसने वाली हैं। जैसे ही उनका मेरा साक्षात्कार हुआ कि वे बोले, "हमें आज ही कार्य समाप्त कर लेना है, चाहे कितनी ही देर हो जाय। समय मेरे पास कम है।"

बहुधा मेरा इण्टरव्यू लेने का ढंग यह है कि कम से-कम दो सिटिंग में विस्तार से चर्चा हो पाती है, क्योंकि एक सिटिंग में केवल चलताऊ काम हो पाता है। यशपाल जी ने जब एक ही सिटिंग में कार्य समाप्त करने की बात कही तो मैंने यह सोचकर सन्तोष कर लिया कि वे मेरे कार्य का महत्त्व जानते हैं और उसे पूरा कराए बिना न छोड़ेंगे।

अभी तक हम उनके आफिस में ही बैठे थे, लेकिन जब आने वालों ने हमारी बातचीत में विघ्न डालना आरम्भ कर दिया तो वे मुझे ऑफिस से मिले अपने ड्राइंग-रूम में ले गए। ड्राइंग-रूम आधुनिक साज-सज्जा की सामग्री से युक्त था। उसकी दीवारों पर लगे चित्रों ने मुझे विशेष आकर्षित किया। जिस

५

श्री यशपाल

हीवेट रोड लखनऊ में साथी प्रेस का दरवाजा खटखटाने पर सबसे पहले एक ग्यारह-बारह वर्ष की बालिका आई। मुझसे उसने नाम पता पूछा और भीतर चली गई। थोड़ी देर में उसने फिर आकर मुझे कुर्सी पर बैठने का इशारा किया और 'बाबूजी अभी आते हैं' कहकर स्वयं भीतर चली गई। आठ-दस मिनट के बाद एक प्रौढ़ वयस्क महिला आकर ऑफिस की कुर्सी पर बैठ गई और उसने भी वही शब्द दुहराये, जो उस बालिका ने कहे थे। बगल वाली कुर्सी पर प्रसिद्ध क्रांतिकारी शिववर्मा भी आ बैठे। महिला चिट्ठियों और फाइलों में उलझ गई। वह थोड़ी देर में ही मुझे किताबों की सार-सँभाल करती दिखाई दी! ऑफिस-मैनेजर का काम करने वाली यह महिला श्रीमती प्रकाशवती पाल (यशपाल की पत्नी) थीं। इस बात का पता मुझे तब चला जब यशपाल जी श्री शिववर्मा के सामने वाली कुर्सी पर आ बैठे और मेरा परिचय कराया गया।

यशपाल जी को मैंने कई वर्ष पहले इलाहाबाद में देखा था। वे राहुल जी के सभापतित्व में होने वाले प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन की उस बैठक का सभापतित्व कर रहे थे, जिसमें कथा-साहित्य की गति-विधि पर विचार किया गया था। उस समय दूर से

समय मुझे बिठाकर यशपालजी चाय के लिए भीतर कहने गए थे, उस समय मैं उन चित्रों को ही देखता हुआ उनमें खो गया था। यशपाल जी-जैसे समाजवादी लेखक के ड्राइंग-रूम में उन भावना मय चित्रों की संगति का रहस्य मुझे पीछे चलकर तब मालूम हुआ जब उन्होंने मुझे बताया कि वे चित्रकारी भी करते थे, पर अब छोड़ चुके हैं। यही नहीं उनके कई सुन्दर चित्र तो भारत-कला-भवन काशी के व्यवस्थापक श्री रायकृष्णदास जी कला-भवन के लिए ले गए हैं। मेरा चित्र-कला का ज्ञान बहुत कम है, पर दूर से ही एक चित्र के रंग इतने स्पष्ट थे कि उनका प्रभाव स्थायी पड़ता था। यशपाल जी की वर्णन-शक्ति का रहस्य भी इन चित्रों ने मेरे समक्ष खोल दिया। उनका ड्राइंग-रूम प्रगतिशील लेखकों पर कला और संस्कृति के दुश्मन होने का आरोप लगाने वालों को अच्छा जवाब है। इससे उनकी कला-भिरुचि और सस्कारिता का भी पता चलता है।

चाय पीने के बाद साहित्य और अनुभवों की चर्चा आरम्भ हुई। यशपाल जी ने अपने बाल्य-जीवन का परिचय इस प्रकार देना आरम्भ किया—"मेरे परिवार का आरम्भिक स्थान काँगड़ा का पहाड़ी जिला है। मेरी शिक्षा आरम्भ में गुरुकुल कांगड़ी में हुई थी। मैं लगभग ७ वर्ष गुरुकुल में रहा हूँ। मेरी माता मुझे वैदिक धर्म का तेजस्वी और ब्रह्मचारी प्रचारक बनाना चाहती थीं। बचपन में माता-पिता से दूर, आर्य समाजी अध्यापकों के निमन्त्रण में कई बरस तक कष्टकर संयम निबाहने की सुख-दुखःपूर्ण कई बातें मुझे याद हैं। नंगे पाँव या खड़ाऊँ पहनकर चलना, काठ पर सोना, सख्त सर्दी में सूर्योदय से पहले ठंडे पानी से नहाना और भोजन के बाद अपना लोटा-थाली स्वयं माँजना। इसके अलावा कभी किसी दुकान या स्त्री का मुख न देखना। सबसे अधिक उग्र स्मृति है गुरुकुल के वातावरण में अंग्रेजों तथा

विदेशी शासन से विरोधी भावना की। उस उम्र में ही जाने किस प्रेरणा से हम लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि हम अंग्रेजों को अपने देश से मार भगायेंगे।

गुरुकुल में सातवीं कक्षा में पहुँचकर मैं असाध्य रूप से बीमार हो गया। मुझे प्रबल संग्रहणी हो गई थी। चिकित्सा के सभी सम्भव उपाय बेकार हो गए। इलाज के लिए देहरादून भी भेजा गया लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। इस कारण मुझे सातवीं कक्षा में गुरुकुल छोड़ देना पड़ा। गुरुकुल छोड़ने से मुझे इसलिए और अधिक प्रसन्नता हुई कि मैं घर का गरीब था। हम दोनों भाइयों का खर्च एक अध्यापिका को मिलने वाले वेतन से चलता था। उन दिनों अध्यापिकाओं को बीस-पचीस रुपये मासिक ही मिलते थे। गुरुकुल में मुफ्त शिक्षा पाता था, इसलिए मुझे प्रायः साथियों के ताने सहने पड़ते थे। अपनी गरीबी के लिए तिरस्कार पाने का मुझे गुरुकुल में बड़ा कटु अनुभव हुआ। मन में सोचता था यदि मैं खूब अमीर की सन्तान होता तो कितना आदर और सुख मिलता। इस प्रभाव से गरीबी के अपमान के प्रति मैं कभी उदासीन न हो सका।

गुरुकुल से लाकर मुझे डी० ए० वी० स्कूल लाहौर में भरती करा दिया गया। लाहौर में भाई परमानन्द जी, बालमुकुन्द और बलराज आदि की राजनैतिक गिरफ्तारियों के कारण अत्यन्त भयानक आतंक छाया हुआ था। मैं 'आनन्दमठ', तथा 'अन्दमान की गूँज' आदि पुस्तकें गुरुकुल में ही पढ़ आया था। इसलिए लाहौर के वातावरण में मुझे घुटन का अनुभव हुआ। गुरुकुल में पढ़ने के कारण मुझे उर्दू नहीं आती थी और अंग्रेजी भी कम ही जानता था। इसलिए सबसे पहले मैंने उर्दू सीखी ताकि मैं अखबारों के सम्पर्क में रह सकूँ। तब पंजाब में उर्दू में ही अखबार निकलते थे। हिन्दी का प्रचार नहीं हुआ था।

१६१६ में रौलट-एक्ट आन्दोलन के बाद मैं फीरोजपुर छावनी में चला गया। उन दिनों मेरी माँ वहाँ आर्यकन्या पाठशाला में पढ़ाती थीं।

सार्वजनिक कार्य की भावना से मैं आर्य समाज-मंदिर में जाने लगा। मुझे काफी वेद-मन्त्र याद थे और लेक्चर भी दे लेता था इसलिए मैंने वहाँ अपना स्थान बना लिया। वहाँ मेरा परिचय एक सहपाठी लजवन्तराय से हुआ। लजवन्तराय के घर में पुस्तकें काफी बड़ी संख्या में थीं। 'चन्द्रकान्ता-संतति' और दूसरे जासूसी उपन्यास, रवि बाबू और शरत्‌बाबू के बंगाली उपन्यासों के अनुवाद, कुछ बंगाली क्रान्तिकारियों के चरित्र, प्रेमचन्द और सुदर्शन की पुस्तकें, 'स्त्री-सुबोधिनी' से लेकर 'सत्यार्थ प्रकाश' तक आर्यसमाजी साहित्य सभी मौजूद था। इन उपन्यासों और कहानियों को पढ़ने का प्रभाव यह हुआ कि मैंने एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया। करीब एक दस्ता कागज लिख डाला, फिर वह कहाँ गया, याद नहीं।

प्रायः मुझसे पूछा जाता है कि मैंने लिखना कब शुरू किया या सबसे पहली कहानी कब लिखी थी। सबसे पहली कहानी मैंने दूसरे कई लोगों की तरह पाँचवीं या छठी कक्षा में, गुरुकुल में पढ़ते समय लिखी थी। उस समय भी मुझे पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त दूसरी पुस्तकें विशेषतः इतिहास और कहानी पढ़ने की ओर रुचि थी। गुरुकुल में लिखने-पढ़ने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए अच्छा वातावरण था। ऊँची श्रेणी के विद्यार्थी रंग-बिरंगी स्याहियों से लिखी और हाथ के बने चित्रों से सुसज्जित दो पत्रिकाएँ निकालते थे। उनमें से एक का नाम 'हंस' था। जयचन्द्र जी विद्यालंकार और सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार उस समय दसवीं कक्षा में पढ़ते थे और हाथ का लिखा दैनिक 'अगुआ' प्रकाशित करते थे। हम लोगों ने भी एक हस्तलिखित

पत्रिका निकाली। उसमें मेरी ऑ'गूठी' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई। उस कहानी को ऊपर की कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों ने खूब पसन्द किया, जिससे मुझे भरोसा हो गया कि मैं कहानी लिख सकता हूँ। उस कहानी के बाद मैंने लिखने का दूसरा प्रयत्न इसी समय १६२० में किया।"

"लेकिन वास्तव में लिखने की प्रेरणा आपको किससे मिली और कब से आपकी चीजें पत्रों में छपने लगीं।"

"मेरी लिखने की ओर प्रवृत्ति तो आरम्भ से ही थी और सहपाठी मुझे लेखक कहने लगे थे। नेशनल कालिज में आने पर हमारे हिन्दी के अध्यापक, हिन्दी के जाने-माने कवि, नाटककार और उपन्यास-लेखक पंडित उदयशंकर भट्ट थे। भट्ट जी की रुचि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की ओर अधिक थी। उन्होंने मुझे कहानी लिखकर दिखाने के लिए उत्साहित किया। और यह भी आश्वासन दिया कि छपने लायक होगी तो वे किसी मासिक पत्रिका में सिफारिश कर देंगे। एक कहानी लिखकर उन्हें दिखाई। यह कहानी उन दिनों बरेली से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'भ्रमर' में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी के सम्बन्ध में और कोई बात याद नहीं, अलबत्ता मेरा उत्साह जरूर बढ़ गया। मैं छोटे-छोटे गद्य-काव्य लिख-लिखकर कानपुर से प्रकाशित होने वाली 'प्रभा' और साप्ताहिक 'प्रताप' को भेजने लगा। इन लेखों के साथ भी भट्ट जी ने अपनी सिफारिश भेजी थी। स्वर्गीय गणेशशंकर जी विद्यार्थी के जीवन-काल में 'प्रभा' और 'प्रताप' हिन्दी-जगत् में क्रान्ति के अग्रदूत थे। 'प्रताप' और 'प्रभा' में उन दिनों एक छोटा-सा कालम 'नहीं छापेंगे' शीर्षक के नीचे उन रचनाओं के नाम रहते थे, जिन्हें पत्र स्थाना-भाव या निस्सार समझने अथवा अपनी नीति के विरुद्ध होने के कारण प्रकाशित न कर सकते थे। मैं 'प्रताप' और 'प्रभा' के

नये अङ्कों में, धड़कते दिल से पहले यही कालम देखता। इसमें अपनी रचना का नाम न पाने पर विषय-सूची देखता और वहाँ भी न पाने पर अगले अङ्क की प्रतीक्षा करता। उस समय लेख लौटाये जाने की आशंका मुझे बड़ी खलती थी। सौभाग्य की बात है कि मेरे वे छोटे-छोटे गद्य-काव्य 'प्रताप' या 'प्रभा' से कभी लौटाये नहीं गये। इसका एक कारण यह भी था कि वे रचनाएँ 'प्रभा' और 'प्रताप' की भावना के अनुकूल थीं अर्थात् उनमें व्यंजना और संकेत से रक्त का मूल्य देकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की पुकार रहती थी।"

उनका सिगार समाप्त हो चुका था। इसलिए कुछ देर के लिए वे सिगार लेने के लिए चले गए। साथ ही चाय का एक-एक कप भी। चाय पीते-पीते ही उन्होंने कहा,—"यह बहुत कम लोग जानते हैं कि सरदार भगतसिंह की भी साहित्यिक रुचि थी और उसे लिखने का बेहद शौक था। मैं हिन्दी में लिखता था और वह उर्दू में। कुछ दिन बाद स्थानीय उर्दू-पत्रों में उसकी लिखी छोटी-छोटी चीजें प्रकाशित होने लगी थीं। सन् '२४-२५ में हमने राष्ट्रीय भावना जागृत करने के लिए नाटकों का सहारा लिया। किसी लेखक के 'महाभारत' नाटक को 'कृष्ण विजय' नाम से परिवर्तित करके हमने खेला। व्यंजना से अंग्रेजों को कौरव और कांग्रेसियों को पांडव बना लिया। उसमें प्रहसन भाग भी जोड़ दिया। कुछ दिन यह शौक रहा। दो नाटक लाहौर में खेले। गुजराँवाला में प्रान्तीय कांग्रेस की कान्फ्रेन्स के अवसर पर 'भारत-दुर्दशा' नाटक खेला था। देहरादून में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर राजा भोज के दरबार में मैंने राजा भोज की भूमिका की थी। भगतसिंह भी नाटकों में भाग लेता था। सन् १९२५ में पंजाब-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा चलाई गई निबन्ध-प्रतियोगिता में जो तीन के निबन्ध सर्वश्रेष्ठ समझे गए थे, उनमें दो

मेरे और भगतसिंह के थे। क्रान्तिकारी-आन्दोलन के आरम्भ के वे दिन मुझे याद हैं, जब मैं एक बार खूब उग्र होकर बाद में साहित्यिक प्रयत्न में डूब जाने की इच्छा से दल (हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना, जिसके हम सब लोग सदस्य थे) के कार्य के प्रति शिथिल होने लगा था तो भगतसिंह और सुखदेव 'साहित्यिक' कहकर मेरा मज़ाक उड़ाने लगे थे। लेकिन जब १६२६ में इन दोनों की गिरफ़्तारी के बाद मैं दुस्साहस से कार्य करने लगा तो भगतसिंह ने जेल से मुझे यह सन्देश भेजा था, "उसे कहो, कुछ दिन बैठकर पढ़े और कहानियाँ लिखे।"

यहीं मैंने पूछा—"जिस क्रान्तिकारी-दल के आप भगतसिंह, सुखदेव आदि के साथ सदस्य थे, उसमें आप किस प्रकार सम्मिलित हुए और क्या आपकी माता जी ने इस पर आपत्ति नहीं की?"

यशपाल जी बोले—"मैंने आपसे कहा है कि गुरुकुल की शिक्षा ने मेरे भीतर अंग्रेजों के प्रति घोर घृणा का अंकुर जमा दिया था। १६२१ के असहयोग-आन्दोलन ने अन्य युवकों की तरह मुझे भी खींच लिया। नेशनल-कालिज में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत थे ही। हम सबके एक साथ हो जाने से हमें राष्ट्रीय कार्य करने की प्रेरणा मिली। मेरी माँ स्वयं पढ़ाई के कार्य से थकी होने पर भी चर्खा कातती थीं। मेरे विचारों में उसने कभी बाधा नहीं डाली। जब मैं नवीं कक्षा में था तभी फ़ीरोजपुर छावनी की अछूतों के लिए खोली गई रात्रि-पाठशाला में स्वयंसेवक की हैसियत से काम करता था। कुछ दिनों बाद जब वह कार्य अवैतनिक न चला और वैतनिक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता हुई तो मुझे उस पाठशाला का हैडमास्टर बना दिया गया और वेतन आठ रुपये तय हुआ। स्कूल में पढ़ते हुए मैं यह कार्य करता था, माँ को तब ३० रुपये तनख्वाह मिलती थी। वे सात बजे पढ़ाने जातीं और हम दोनों भाइयों के लिए खाना बनाकर

रख जातीं। वे स्कूल से थकी-माँदी आकर बरतन माँजतीं, यह मुझे अच्छा न लगता, इसलिए मैं स्कूल जाने से पहले चौका-बरतन कर देता था। एक फलांग दूर से पानी भी लाता था। मेरे इस व्यवहार से माँ को अपार सन्तोष होता था। इसलिए मेरे राष्ट्रीय कार्य में वे कभी बाधक नहीं बनीं। हाँ, कक्षाएँ पास करते जाने और कुछ बनकर दिखाने का आग्रह उनका अवश्य रहा।

पहले मैं कांग्रेस का अनुयायी था। विदेशी कपड़ों की होली जलाता था। माँ को भी कांग्रेसी-आन्दोलन से पूरी सहानुभूति थी, जब मैं फीरोजपुर शहर में जिला कांग्रेस कमेटी के दफ़्तर में अवैतनिक कार्य के लिए गया तो वहाँ राजनैतिक पुस्तकें पढ़ीं और अंग्रेज साम्राज्यशाही द्वारा भारत के शोषण के विरोध की मेरी निष्ठा गहरी हो गई। दफ़्तर में कांग्रेस-कार्य के संचालक श्री नन्दगोपालजी के प्रभाव से मुझे तिलक, गोपालकृष्णगोखले, मालवीयजी और गांधी जी आदि के लेखों और व्याख्यानों की पुस्तकों में रुचि हुई। स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द की पुस्तकें भी मैंने वहाँ पढ़ीं। इससे मुझे अपने राष्ट्र की बौद्धिक श्रेष्ठता का विश्वास हो गया। मैं कांग्रेस में जी-जान से जुट गया, लेकिन १६२१ के आन्दोलन को गांधी जी ने एकाएक स्थगित कर दिया तो मुझे कांग्रेस में विश्वास नहीं रहा। सोचा, 'गांधी जी संघर्ष से बराबर घबराते हैं और आध्यात्मिकता की बातें करते हैं। युवक इस प्रवृत्ति से सन्तुष्ट नहीं हो सकते।' फल यह हुआ कि नेशनल कालिज में आने पर कालिज के प्रोफेसरों ने, जिनमें जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम प्रमुख है, अध्ययनशील विद्यार्थियों के एक समूह को क्रांतिकारी कार्य करने को प्रोत्साहित किया। अधिकांश विद्यार्थी कालिज में राजनीति, अर्थशास्त्र, और इतिहास ही पढ़ते थे। फारसी और संस्कृत भी पढ़ाई जाती थी। भगतसिंह भी संस्कृत पढ़ता था। सुखदेव और मैं एक ही कमरे में रहते थे।

सत्याग्रह की विफलता के अनुभव के बाद इस समूह को डेनब्रीन की 'माई फाइट फॉर आइरिश फ्रीडम' मैजिनी और गैरीवाल्डी की जीवनियाँ, फ्रांसीसी क्रांति का इतिहास, वाल्तेयर और रूसो के रूढ़िवाद-विरोधी क्रांतिकारी विचार, रूसी क्रांतिकारियों की जीवनियाँ, 'वीरा फिगनर', 'क्रोपाटकिन' आदि और इसके साथ-साथ भारत में सत्याग्रह से भिन्न देश को स्वतन्त्रता के लिए किये गए प्रयत्नों का परिचय देने वाली पुस्तकें, जिनमें सान्याल दादा की 'बन्दी जीवन' और 'रौलट कमेटी की रिपोर्ट' प्रमुख हैं, पढ़ने को मिलीं। इसी बीच एक दिन भगतसिंह और मैंने रावी में नौका-विहार करते हुए देश के लिए जीवन अर्पित करने की प्रतिज्ञा कर ली। आगे चल कर एक दल संगठित हुआ, जिसने क्रांतिकारी परम्परा को आगे बढ़ाकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए। मेरी 'सिंहावलोकन' नामक पुस्तक में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है।"

यह सब सुनकर यशपाल जी का वह व्यक्तित्व मेरी आँखों के सामने घूम गया, जिसकी ओर मेरा पहले कभी ध्यान नहीं गया था अनायास ही मेरे मुँह से निकल गया— "इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप क्रांतिकारी पहले हैं और साहित्यकार पीछे?"

उन्होंने कहा —"मैं अपनी राजनीतिक तथा साहित्यिक प्रवृत्ति को अलग-अलग नहीं समझता। वे मेरे लिए एक ही वस्तु हैं और एक ही लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हैं। इसीलिए क्रांतिकारी जीवन-काल में भी साहित्य मेरे साथ बराबर रहा है। जेल में मैंने साहित्य की उपेक्षा नहीं की। मैंने फरारी के दिनों में लुई फिशर की 'लेनिन और गांधी' पुस्तक का रूपांतर किया था। जेल में बँगला, फ्रेञ्च, इटालियन और रशियन भाषाएँ सीखीं। 'पिंजरे की उड़ान' और 'वो दुनियां' की कहानियाँ प्रायः जेल की ही हैं। एक उपन्यास भी लिखा था। पहले मैंने अंग्रेजी में लिखना आरम्भ किया।

फिर सोचा कि मुझे अंग्रेजों के लिए नहीं अपने ही देश के लोगों के लिए लिखना है। अंग्रेजों से मुझे क्या करना है? यदि मेरी चीज अच्छी होगी तो उसका अंग्रेजी में अनुवाद स्वयं हो जायगा। मैंने पहले 'मकरीला' और 'पराई' आदि कहानियाँ प्रकाशित कराईं। उनसे मुझे प्रोत्साहन मिला। जेल से छूटने पर अस्वस्थ था तब छः महीने भुवाली में रह कर भी लेख और कहानियाँ लिखीं। उनकी भी तारीफ हुई, इसलिए लिखने का निश्चय किया और 'न्याय का संघर्ष' निबन्ध-संग्रह लिखा। जेल से बाहर आने पर मैंने लखनऊ में श्री सहगल के 'कर्म-योगी' में ७५ रु० मासिक पर नौकरी की। 'आपबीती' लिखने के प्रसंग को लेकर झगड़ा हो गया। १५ दिन की तनखाह तक उन्होंने मार ली। हारकर 'विप्लव' शुरू किया। जब विप्लव शुरू किया तब कुल ३०० रुपये हमारे पास थे। उनसे कागज और छपाई का काम चल सका था, वह भी एक ही अंक का। दूसरे के लिए तो केवल कागज खरीदने-भर के लिए ही रुपया था। प्रकाशवती ने प्रथम अंक लेकर दौरा किया और ६०-७० ग्राहक बनाये और लगभग २५० रुपये इकट्ठे कर लिया। दूसरा अंक निकाला। 'विप्लव' चल निकला। १९४१ में मेरे गिरफ्तार हो जाने से 'विप्लव' बंद हो गया। उस बीच मैंने 'दादा कामरेड' तथा, 'मार्क्सवाद' आदि पुस्तकें लिखी थीं। १९४४ में छपाई में कठिनाई अनुभव करके एक ट्रेडिल खरीदी, फिर दूसरी ट्रेडिल खरीदी गई। १९४७ में दुबारा 'विप्लव' निकला। मेरे इस कार्य का उद्देश्य भी राजनीतिक चेतना जागृत करना था मेरा और बहुत से लोगों का विचार है कि 'विप्लव' ने 'मार्क्स-वाद' के प्रचार में ऐतिहासिक कार्य किया है। मैं साहित्य को साधन के रूप में मानता हूँ और मेरा ध्येय साहित्य द्वारा क्रांति की प्रवृत्ति और भूमिका तैयार करना ही रहता है।"

यशपाल जी जीवन-भर क्रांतिकारी रहे हैं और अब सोलह आने साहित्यिक हैं। इसलिए उनके पास कहने के लिए इतना अधिक है और इतना निराला है कि आठ घण्टे तक उनके पास बैठकर भी आप ऊब नहीं सकते। मैं भी उनके पास बैठ-कर अपने को प्रेरणापूर्ण और स्फूर्ति-सम्पन्न अनुभव कर रहा था और चाहता था कि उनकी कहानियाँ सुनता ही चला जाऊँ, पर उनके समय का ध्यान करके मैंने अपने काम की बातें पूछना ही उचित समझा। जब वे अपने साहित्यिक जीवन पर बातें कर रहे थे तब मैंने उनसे पूछा—"वे देशी-विदेशी लेखक कौन से हैं जिन्हें आप अधिक पसन्द करते हैं और जिनका आपके ऊपर विशेष प्रभाव है?"

"विदेशी लेखक मैंने बहुत से पढ़े हैं। ७ वर्ष जेल में रहने से मुझे पढ़ने का बहुत अवसर मिला। मैंने फ्रेञ्च, रशियन और इटालियन लेखकों की कुछ पुस्तकें मूल भाषाओं में पढ़ी हैं, अंग्रेजी अनुवादों से नहीं। बर्नार्ड शॉ के प्रति मुझे विशेष अनुराग नहीं है। उसमें विरोधाभास है, पर तर्क की गहराई नहीं है। किसी विषय की तह तक वह नहीं पहुँच पाता। इब्सन और हार्डी को मैंने काफी पढ़ा है। हार्डी में गहरी मार्मिकता है। गाल्सवर्दी मुझे सामाजिक चित्रण में निपुण जँचा है। शैली और विचारों में मुझे अनातोले फ्रांस ने बहुत प्रभावित किया है। 'थाया' को जेल जाने से पूर्व अंग्रेजी में पढ़ा था। जेल में उसे फ्रेञ्च में पढ़ा। उसके बाद उसका प्रेमचन्द जी-कृत हिन्दी-अनुवाद पढ़ा। प्रेमचन्द जी के अनुवाद के विषय में यह बताना जरूरी है कि मेरे अनुमान में प्रेमचन्द जी फ्रेञ्च नहीं जानते होंगे। उन्होंने अंग्रेजी के अनुवाद से ही हिन्दी में अनुवाद किया है। परन्तु उनका अनुवाद अंग्रेजी अनुवाद से बेहतर है। इसका कारण यह है कि यह उपन्यास पूर्वी विचार-धारा का है और प्रेमचन्द जी

पूर्वी विचार-धारा को 'थाया' के अंग्रेजी अनुवादक की अपेक्षा अच्छी तरह समझते थे। मैं विक्टर ह्यूगो के कथानकों के गठन का कायल हूँ। ग्रीवील दूनंजियो की रोमांटिक प्रवृत्ति ने भी मुझे प्रभावित किया है। दाँते की 'डिवाइन कामेडी', बुकेशियो की कहानियाँ, मोपासाँ और बालजक की रचनाएँ भी मेरे लिए प्रिय रही हैं। रूसी लेखकों में मुझे टालस्टाय और तुर्गनेव पसन्द हैं। देशी लेखकों में बंकिम, रवीन्द्र और शरत् को मैंने मूल बँगला में पढ़ा है।"

"और हिन्दी में"

"मेरे विचार में रांगेय राघव, अज्ञेय, सत्येन्द्र शरत्, शोभाचन्द्र जोशी, कन्हैयालाल कपूर आदि बँगला से अच्छा लिखते हैं। रांगेय राघव की 'कुम्हारों के मुहल्लों की कहानी' (पंच परमेश्वर) तो विश्व-साहित्य की चीज है। कविता में मुझे विशेष रुचि नहीं है। मैं उसकी जटिलता और रहस्य से परिचित हूँ। पन्त जी और बच्चन की आरम्भिक रचनाएँ मुझे अपेक्षाकृत स्वाभाविक और अच्छी लगी हैं। सामयिक राजनैतिक कविता लिखने वालों में नागार्जुन और केदार खूब लिखते हैं। मेरी राय में अच्छी कविता वह है जो सर्वसाधारण की जबान पर चढ़ जाय।"

यहाँ उन्होंने अपनी शिमला से पैदल कुल्लू-यात्रा की एक घटना सुनाई। उसमें उन्होंने बताया कि वे एक डाक-बँगले में ठहरे थे। वहाँ के खानसामा की ६ वर्ष की बच्ची डाक-बँगले में ठहरने वाले यात्रियों के मनोरंजनार्थ सिनेमा के गीत गाया करती थी। मैं जब वहाँ गया तो उसने 'गोरी मोहे गंगा के पार मिलना' वाला गीत गया। तब मैंने सोचा कि नगर की सभ्यता और हलचल से दूर एक सुनसान पहाड़ी-प्रदेश में यह सिनेमा के गीत की कड़ी इस बालिका के मुँह से गाई जा रही है तो यह इस गीत

की सादगी और मार्मिकता के कारण। हिन्दी-कविता में सादगी के अभाव से जनता तक पहुँचने की शक्ति नहीं रही है।"

जब मैंने उनसे पूछा कि आप निरन्तर कैसे लिखते चले जा रहे हैं, तो वे बोले, "मैं अनुभव करता हूँ कि अमुक प्रश्न उठाया जाना चाहिए अथवा अमुक समस्या की ओर ध्यान देना आवश्यक है अथवा अमुक समस्या का मेरे विचार में यह उत्तर होना चाहिए और मैं अपने साथियों, अपने समाज को यह बात सुनाने या सुझाने की आवश्यकता अनुभव करता हूँ तो लिखना जरूरी हो जाता है। ऐसे प्रश्न, समस्याएँ और बातें मुझे इतनी अधिक दिखाई देती हैं कि लिखना मुझे सदा ही आवश्यक और स्वाभाविक जान पड़ता है। कभी कुछ दूसरे कारण रुकावट डाल देते हैं तो नहीं लिख पाता हूँ वरना लिखना तो सदा ही चाहता हूँ। लिखना मैं अपना काम समझता हूँ! जैसे दूसरों के अपने काम हैं, मेरा काम लिखना है। मैं अपना काम न करूँ, यह मुझे अस्वाभाविक और अनुचित भी जान पड़ता है।"

"लेकिन आप लिखने के लिए सामग्री कैसे जुटाते हैं और कैसे लिखते हैं?" मैंने उनके लिखने के ढंग के विषय में प्रश्न किया।

उन्होंने कहा,—"उपन्यास के लिए तो केवल 'आइडिया' आना चाहिए, पात्र मैं स्वयं गढ़ लेता हूँ। 'दिव्या' में मारीश और दिव्या द्वारा मैंने अपना दृष्टिकोण ही देना चाहा है। पृथुसेन, रुद्रवीर और स्थविर चीबुक दूसरे पक्ष की विचार-धारा को प्रकट करने के साधन हैं। इस उपन्यास का प्रतिपाद्य यह भी है कि समाज और व्यक्तियों की नैतिकता भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम होती है। 'दिव्या' बिना रुके १५ दिन में 'रफ' लिख ली थी और १५ दिन में उसे 'रीराइट' किया। इसी प्रकार मेरे नये अप्रकाशित उपन्यास 'नालन्दा' में इस

बात की चर्चा का प्रयत्न है कि हम मुसलमानी आक्रमण-कारियों से क्यों हारे ? मेरे विचार में हिन्दू-समाज का व्यक्तिवादी और आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही उसके लिए उत्तरदायी है ।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी लेखक की कोई कहानी पढ़ी और देखा कि वह कुछ व्यक्त करना चाहता है परन्तु ठीक से व्यक्त नहीं कर पाता, तो मैं उसी विषय पर कहानी लिखने का प्रयत्न करता हूँ । कभी-कभी उस कहानी के 'आइडिया' से मिलता-जुलता 'आइडिया' सूझ जाता है, तब भी मैं कहानी लिखता हूँ । पहले विषय चुनता हूँ और विषय के अनुरूप कथानक, और कथानक की घटनाओं के अनुरूप पात्रों की कल्पना करता हूँ ।

कहानी लिखने की प्रेरणा के लिए मुख्य स्रोत समाज के प्रति मेरा देय है । समाज का अंग होने के नाते अपने जीवन में या अपने आस-पास मैं जो अन्तर्विरोध देख पाता हूँ उनकी ओर विद्रूपमय लक्ष्य करने के लिए लिखता हूँ । कुछ हद तक मेरी चित्रकारी कर सकने की अतृप्त प्रवृत्ति का भी इसमें सहयोग है । कोई मार्मिक घटना या अभिव्यक्ति देख-सुन पाता हूँ, तो उसे शब्दों में चित्रित करने का यत्न करता हूँ । लिखते समय में सूत्र टूटने की कठिनाई अनुभव नहीं करता । अब मैं डिक्टेट कराना ज्यादा पसन्द करता हूँ । कहानी की सफलता मैं कथानक को विश्वास-योग्य बना देने में समझता हूँ । मैं मानता हूँ कि बिना देखे भी केवल पुस्तकों के आधार पर भौगोलिक परिस्थिति का विवरण दिया जा सकता है । 'दिव्या' और 'देशद्रोही' में जिन परिस्थितियों का चित्रण है वे इतिहास की पुस्तकों, एन्सा-इक्लोपिडिया तथा पठानों से बातचीत करके ही मैंने दी हैं । लिखने के लिए अच्छा फाउण्टेन पैन जरूरी है । कागज भी ऐसा तो होना ही चाहिए, जिस पर स्याही न फैले । बीच-बीच में

सिगरेट-सिगार पीता जाता हूँ। मैं पौधों का शौकीन हूँ, इसलिए थोड़ी देर लिखकर गमलों में चक्कर भी लगा लेता हूँ। लिखने के लिए टेबुल होना चाहिए, क्योंकि बिना उसके मैं पीठ में कष्ट अनुभव करके लिख नहीं सकता। लिखने के लिए कोई समय निश्चित नहीं है। जरूरत होने पर ही लिखता हूँ। लिखने से पहले सुस्ती दूर करने के लिए पढ़ता हूँ। आजकल रात में देर तक नहीं जागता। हाँ, कभी-कभी ऐसा जरूर होता है कि रात को ६-१० बजे लिखने बैठता हूँ और ५ बजे तक लिखता हूँ। ऐसा जब कभी होता है तो मुझे रात में लगभग १ बजे के भूख लगती है। मेरी पत्नी इसके लिए चाय का सामान, स्टोव तथा कुछ खाने की चीज रख देती है, ताकि मुझे बिना किसी को जगाये क्षुधा शान्त करने की सुविधा रहे।"

हॉबी की बात चलने पर उन्होंने बताया, "पहले मुझे चित्र-कारी का बड़ा शौक था, पर अब नहीं है। जेल में मैंने इसके लिए झगड़ा करके विशेष आज्ञा ले ली थी। आज्ञा इस शर्त पर मिली थी कि चित्र बनाकर बाहर नहीं भेज सकता। उन्हें शायद आशंका थी कि मैं जेल का नक्शा बनाकर बाहर भेज दूँगा और भागने की व्यवस्था कर लूँगा। चित्र मैं केवल भावात्मक और कल्पना से ही बनाता था। कभी प्राकृतिक दृश्य का अंकन (लैण्ड स्केप) नहीं किया। मेरे बनाये दो चित्र श्री रायकृष्ण-दास जी विशेप पसन्द आ जाने के कारण भारत-कला-भवन, काशी के संग्रहालय के लिए ले गए हैं। कुछ मित्रों ने झपट लिये। अब दो-तीन रह गए हैं। अब समय नहीं मिलता।

दूसरी रुचि है पेड़-पौधे या फूल लगाने की। मकान में कच्ची जमीन नहीं है। गमलों में ही विचित्र पौधे इकट्ठे करता रहता हूँ। यहाँ तक कि कमरों में भी रखे रहता हूँ। कमरे में एक-आध क्रोटन या पाम न हो तो मुझे सूना-सूना लगता है।

अब तो मकान बहुत छोटा नहीं है, लेकिन जब जेल से छूटा था तो बहुत छोटे मकान में रहता था, वहाँ भी पेड़ भर लिये थे। जेल में भी इस काम में समय काटता था। लगेगा तो विचित्र, पर कुत्तों का भी शौक है। अब इसलिए नहीं पालता कि पिछले कुत्ते को कैंसर हो जाने के कारण स्वयं जहर खिलवा देना पड़ा था। उससे बीमारी फैलने की आशंका थी। यों मैं बहुत सख्त मिजाज आदमी समझा जाता हूँ। अपने हाथों भी लोगों को गोली मार चुका हूँ। लेकिन उस कुत्ते को जहर दिलवाते समय और उसके विश्वासपूर्वक खा जाने पर, आँखों में आँसू आ गए और अब फिर कुत्ता पालने की बात से उसकी याद आ जाती है। उसका नाम था 'बनी' और वह जात का था स्पेनियल। संगीत का ज्ञान नहीं है, पर सुनना पसन्द करता हूँ। खाना खाने के बाद पक्का गाना सुनने में आनन्द आता है। यात्रा करने का मैं शौकीन हूँ। वैसे भी मैं बराबर घूमने जाता हूँ। पहले उपन्यास, कहानी, यात्राओं, और जीवनियों के पढ़ने का शौक था पर अब सैद्धान्तिक चीजें ही पढ़ने की रुचि है।"

थोड़ी देर रुककर वे अपने स्वभाव के विषय में बोले, "मैं स्वभाव से समाज का असन्तुष्ट और सचेत अंग हूँ। एक विरोधाभास है कि मैं साधन-हीन गरीब की वकालत करता हूँ और वेश-भूषा, रहन-सहन में आई० सी० एस० या ऊँचे व्यापारी वर्ग का-सा व्यवहार करता हूँ। कुछ लोग जानते हैं कि जैसे सूट-बूट पहन-कर मैं रहता हूँ, हिन्दी-कलाकारों में शायद बच्चन के अतिरिक्त दूसरा नहीं रहता!

मेरे इस व्यवहार की मनोवृत्ति का आधार यह है कि मैं अपने-आपको अब भी साधन-हीन श्रेणी का अंग समझता हूँ। और जीवन की सुविधा और शौक में विशेष अवसर और अधि-कार-प्राप्त श्रेणी के कन्धे-से-कन्धा लगाकर अपनी हीनता का

विरोध करना चाहता हूँ। मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं कि साधन-हीन श्रेणी को साधनों, सुविधा और शौक के बिना ही सन्तुष्ट बना रहना चाहिए। मेरे कपड़ों और खर्च करने के ढंग से अनेक लोगों को भ्रम हो जाता है कि मेरे बैंक-अकाउण्ट में एक लाख से क्या कम होगा ? असल बात यह है कि मेरी बैंक की किताब में एक के अंक के आगे दो शून्य से अधिक कभी नहीं बढ़ पाते। दो-तीन बार तो बैंक शिकायत कर चुका है कि हिसाब कुछ रहता भी है ?"

जब मैंने उनसे यह पूछा कि आपको अब तक की लिखी किन कृतियों से सन्तोष हुआ है तो उन्होंने कहा—"यह कहना बहुत मुश्किल है, फिर भी कहानियों की दृष्टि से 'उत्तराधिकारी' की कहानियाँ श्रेष्ठ हैं। क्योंकि इस समय तक यह मेरा अन्तिम संग्रह है। इसके बाद जो संग्रह प्रकाशित होगा, समय आने पर उसे बेहतर समझूँगा। उपन्यासों में 'दिव्या', 'देशद्रोही, 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड' और 'मनुष्य के रूप' सभी कुछ लिख-कर मुझे संतोष मिला है। मेरी आदत है कि जिसे लिखकर मुझे सन्तोष नहीं मिलता, उसे मैं प्रकाशित नहीं कराता। 'राजेश्वरी' मेरा ऐसा ही उपन्यास है। उसे मैं अभी दुबारा लिखूँगा।"

इधर यशपाल जी की कुछ कहानियों और उपन्यासों को लेकर न केवल प्रतिगामियों बल्कि प्रगतिवादियों में भी इस बात की चर्चा रही है कि वे अश्लीलता की ओर झुक रहे हैं। मेरे कानों में भी यह आवाज गूँजती रही है। यशपाल जी से मिलने का अवसर पाकर वह बाहर आना चाहती थी, इसलिए मैंने उनसे प्रश्न किया, "आपके ऊपर आज अश्लीलता का तथा पथ-भ्रष्ट होने का जो आरोप लगाया जाता है उससे आप कहाँ तक सहमत हैं ?"

उन्होंने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"मैंने कभी अश्लीलता को रुचि से नहीं अपनाया। मैं 'सैक्स' को विरोधाभास दिखाने का साधन बनाता हूँ, जिसे न समझने के कारण कुछ लोग अश्लील कहते हैं। देखने की बात यह है कि उससे पाठक पर क्या प्रभाव पड़ता है? वह कहाँ पहुँचता है? जो लोग मेरे 'दादा कामरेड' 'पार्टी कामरेड' व 'देशद्रोही' पढ़कर कम्युनिस्ट बने हैं, वे ही आज मेरे ऊपर लांछन लगाते हैं कि मैं कम्युनिस्टों पर अनाचार का आरोप करता हूँ। यदि मेरी पुस्तक का ऐसा प्रभाव होता तो वे इन पुस्तकों से कम्युनिस्ट-विचारों की ओर कैसे आकृष्ट होते। इस तरह की बातों से मुझे तुर्गनेव के उपन्यास 'पिता और पुत्र' की बात याद आती है। इस पुस्तक में तत्कालीन क्रांतिकारियों की प्रवृत्तियों का चित्रण तुर्गनेव ने किया है। उस समय के अनेक क्रांतिकारियों ने इस पुस्तक को अपने ऊपर लांछन समझा, परन्तु पचास वर्ष बाद पुस्तक को क्रांतिकारी भावना के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और विकास का सबसे उत्कृष्ट चित्रण माना जाने लगा। मैं अपने उपन्यासों के उचित मूल्यांकन के लिए प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हूँ। (यशपाल ने हँसकर कहा) कम्युनिस्ट बन जाने के बाद अनेक व्यक्ति कम्युनिस्टों का चित्रण कम्युनिस्टों के आदर्श व्यक्ति के रूप में ही देखना चाहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि मैं पूँजीवादी समाज के मध्य वर्ग में पनपे व्यक्तियों का चित्रण कर रहा हूँ, जो बौद्धिक रूप से कम्युनिस्ट विचार-धारा को ग्रहण करते हैं, परन्तु पूँजीवादी समाज के मध्यवर्ग की अनेक प्रवृत्तियाँ संस्कारों और अभ्यासों के रूप में लिये रहते हैं। स्वाभाविक कमजोरियों के बावजूद मेरे पात्र आदर्श के लिए लड़ते हैं। सैक्स समाज की असंगतियों को दिखाने का साधन है, लक्ष्य नहीं। 'धर्म-रक्षा' और ऐसी ही कुछ कहानियों में मिथ्या-

विश्वास पर जमी नैतिकता का खोखलापन दिखाने का यत्न किया है। न समझने वालों को यह अवश्य खलता है।"

और यौन-प्रसंग की अधिकता पर खीझने वालों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा—"मेरी रचनाओं में यौन-प्रसंग अधिक हैं, इसका प्रमाण अधिकांश पाठकों की सम्मति ही तो है। परन्तु हमारे समाज के अधिकांश पाठक स्वयं यौनाक्रांत—सेक्स रिडेन—हैं। जहाँ यौन साधारण स्थिति या अनुपात में है, उन्हें अधिक दिखाई दे सकता है और जहाँ नहीं है, वहाँ भी दिखाई दे सकता है। बात उदाहरण से ही अधिक सुलझती है।" यह कहकर उन्होंने एक साहित्यिक गोष्ठी का उल्लेख करते हुए कहा—

"एक साहित्यिक गोष्ठी में मेरी रचनाओं पर बातचीत करने के लिए मुझे निमंत्रित किया गया था। पहला प्रश्न यही किया गया कि मैंने अपने उपन्यास 'दादा कामरेड' में नायक हरीश द्वारा नायिका को नग्न देखने की इच्छा क्यों प्रकट की है? क्या यह स्वाभाविक और उचित है?"

अवसरवश उस गोष्ठी में भिक्षु आनन्द जी भी उपस्थित थे। वे मुझसे पहले बोल उठे, "यदि यशपाल को आपत्ति न हो तो इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर मैं देना चाहता हूँ। यशपाल अपना उत्तर विस्तार पूर्वक दे सकते हैं। संन्यासी होने के नाते उपन्यास मेरा विषय नहीं है, परन्तु यशपाल के सभी उपन्यास मैंने पढ़े हैं, क्योंकि मुझे वे केवल विनोद का साधन नहीं, समस्यामूलक जान पड़ते हैं। 'दादा कामरेड' भी दो तीन बार पढ़ा है। इस उपन्यास को पढ़कर मेरे सामने कई प्रश्न उठे। उदाहरणतः सांप्रदायिक मतभेद होने पर राबर्ट और फ्लोरा में से कौन अधिक नैतिक रहा? सांप्रदायिक असहिष्णुता अधिक नैतिकता है या सांप्रदायिकता की अपेक्षा सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास रखने वाले साथियों से नायक का पृथक् हो जाना

उसके नैतिक बल का प्रमाण है या कायरता ? राजनैतिक उद्देश्य से डकैती नैतिक है या अनैतिक ? शैल का नैतिक कर्तव्य पिता की आशाएँ पूर्ण करना है या अपने सखा की, अथवा अपने राजनैतिक दल की। शैल ने एक बार गर्भ-पात करके अपने सामाजिक सम्मान की रक्षा की, दूसरी बार समाज की दृष्टि में अनधिकारी गर्भ को लेकर वह सिर ऊँचा करके खड़ी हो गई, यह उसका नैतिक पतन था या साहस ? हरीश ने शैल को नग्न देखने की इच्छा प्रकट की, यह क्या क्रान्तिकारी के संयम के अनुकूल है ?' आनन्द जी ने पूछा, 'इन सात प्रश्नों में से आपके सामने केवल यह अन्तिम प्रश्न ही क्यों उठता है। मुझे जान पड़ता है, आपका मस्तिष्क यौनाक्रान्त है, यदि मैं अधिकांश पाठकों के लिए ऐसी ही बात कहूँ तो क्या अनुचित या अयथार्थ होगा ?"

"यह तो ठीक, लेकिन आप परम्परागत मान्यताओं से विद्रोह क्यों करते हैं ?" मैंने कहा।

वे बोले, "एक आलोचक के रूप में जब मैं सोचता हूँ कि यशपाल परम्परागत मान्यताओं से विद्रोह क्यों करता है तो उत्तर मिलता है कि यशपाल ऐसे समाज का अङ्ग है जिसकी भौतिक परिस्थितियाँ, बाहरी प्रभावों से असाधारण तेजी से बदल रही हैं। हमारा समाज भौतिक अनुभव की कसौटी की उपेक्षा न कर सकने के कारण जीवन के भौतिक, आर्थिक परिवर्तनों को तो स्वीकार करता जा रहा है, परन्तु परम्परागत मानसिक अभ्यासों को, जिन्हें हम आदर्शों के रूप में पोसते आये हैं, उसी गति से नहीं बदल पा रहा। विपरीत इसके, समाज में ऐसी भी भावना दिखाई देती है कि हमारा भावी जीवन परम्परागत आदर्शों के अनुसार ढलना चाहिए, वर्ना हमारा समाज ह्रास की ओर जाने लगेगा।"

आलोचक के रूप में मैं देखता हूँ कि यशपाल का उपर्युक्त धारणा में मौलिक भेद है। भेद की जड़ यह है कि यशपाल विचारों को समाज के जीवन-पथ का निर्देशक नहीं मानता। वह मानता है कि समाज का जीवन समाज के विचारों को ढाल देता है। विचारों का प्रयोजन है, समाज द्वारा स्वीकृत जीवन के क्रम को व्यवस्था और संयम में रखना। यशपाल जब समाज में होने वाले भौतिक, आर्थिक परिवर्तनों को परम्परागत विचारों द्वारा बाधित पाता है तो परम्परागत मान्यताओं से विद्रोह करके नई मान्यताओं की माँग पेश करता है, जिनका सामाजिक आवश्यकताओं में समन्वय हो सके।

यशपाल का माध्यम प्रधानतः कहानी है इसलिए वह सामाजिक धारणाओं को घटनाओं के रूप में चित्रित करके सामाजिक जीवन के व्यवहार और परम्परागत मान्यता में विरोध की ओर संकेत करता है। साधारणतः यही बात उसकी सभी रचनाओं की प्रेरणा है।

कहानी के माध्यम से यशपाल सामाजिक समस्या के इस पहलू पर ही क्यों जोर देता है, इसका कारण उसके व्यक्तित्व के पनपने में पड़े प्रभावों में भी खोजा सकता है। पहली बात तो यह है कि वह एक उखड़े हुए निम्न मध्यवर्गीय परिवार की परिस्थितियों में पला है। उखड़े हुए परिवार के सामने समाज की परम्परागत मान्यताएँ तो रहती हैं परन्तु उन मान्यताओं के अनुसार सुव्यवस्थित और सन्तुष्ट जीवन-निर्वाह की सुविधाएँ नहीं रहतीं। ऐसा परिवार अपने व्यवहार और महत्त्वाकांक्षाओं के खोखलेपन को अनुभव करता रहता है।

उखड़े हुए निम्न मध्यवर्गीय परिवार की सन्तान सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों को कैसे पग-पग पर देख सकती है, यह बात यशपाल के संस्मरणों (सिंहावलोकन) की कुछ मोटी-मोटी

रेखाओं में झलक जाती है। परिवार की आर्थिक परिस्थितियों से मजबूर होकर भी विकास की महत्त्वाकांक्षा को छोड़ न देने से परिवार का बोझ पिता के कंधों से हटकर माता के कंधों पर आ जाना, यशपाल का बचपन में ही रूढ़िवाद-विरोधी तत्कालीन आर्यसमाजी प्रभाव में रहना, किशोरावस्था में एक दूसरे प्रकार के रूढ़िवाद यानी गुरुकुल में वैदिक धर्म की शिक्षा पाना और फिर सहसा लाहौर के वातावरण में शिक्षा पाना, यशपाल के पंजाब में आ गए, अपेक्षाकृत आधुनिक भावना अपनाये परिवार, और उसके सुदूर काँगड़ा की पहाड़ी घाटी में परिचित सम्बन्धियों के जीवन और विचारों की भिन्नताएँ ऐसी अवस्था में उसके सामने भौतिक जीवन की कसौटी के अतिरिक्त विश्वास-योग्य पथ-निर्देशक और कौन चीज रह सकती थी, इसी प्रवृत्ति के कारण कांग्रेस के मार्ग से देश का काम करने का व्रत ले, जब अनुभव की कसौटी पर वह सार्थक न जँचा, उसने बम और तमंचा लेकर सशस्त्र क्रांति के प्रयत्न में जान को जोखिम में डाल दिया। बात समझ में आ जाने पर वह बात को अधूरी नहीं रखना चाहता, क्योंकि उखड़े हुए परिवार की वह मौलिक प्रवृत्ति उसके स्वभाव और व्यवहार की नींव बन गई है, जिसे कहते हैं, 'गँवाने के लिए अपने दारिद्र्य के अतिरिक्त कुछ है नहीं। पाने को अनेक आशाएँ।'

इसके बाद साहित्य से जीविकोपार्जन पर बात चली तो कहने लगे, "कठिनाई होती है। इसके लिए यदि अधिक लिखा जाय तो लेखक की रचनाएँ 'जर्नलिस्टिक' हो जायँगी। प्रायः पत्रों से पारिश्रमिक २० रुपये से ज्यादा नहीं मिलता। यद्यपि मैं कहानी के लिए ५०-६० रुपये से कम नहीं लेता। मेरा अपना प्रकाशन है, शायद इसलिए बिक्री से काम चल जाता है। साधारणतः हिन्दी में लिखकर निर्वाह होना

कठिन है।"

मैं बराबर देख रहा था कि श्रीमती प्रकाशवती अपने ऑफिस में व्यस्त थीं और इधर हम लोगों के लिए चाय आदि भिजवाने का भी ध्यान रख रही थीं। यशपाल जी को कोई पुस्तक या फाइल माँगनी होती तो उन्हीं से कहते। यह सब देखकर मैंने यशपाल जी से कहा—"मुझे लगता है कि आपके निर्माण में आपकी पत्नी का बड़ा हाथ है?"

यशपाल बोले, "इसमें सन्देह की गुञ्जाइश नहीं कि मेरे लिए सुविधा से लिख सकने की परिस्थितियों का बहुत सा श्रेय प्रकाशवती जी को है, नहीं तो सम्भवतः मेरा बहुत सा समय और शक्ति प्रकाशक ढूँढ़ने और रायल्टी के लिए प्रकाशकों के दरवाजे के चक्कर लगाते रहने में ही व्यय हो जाते। 'विप्लव' को सफल बनाने के लिए इन्होंने जो यात्रा की थी वह तो मैं बता ही चुका हूँ। अब भी अस्वास्थ्य या भीड़-भड़क्के के कारण लिखने में असुविधा अनुभव करता हूँ तो पहाड़ चला जाता हूँ। तीन-चार महीने पहाड़ पर ही रह आता हूँ। इस बीच प्रेस, प्रकाशन और बिक्री का सब काम प्रकाशवती ही सँभालती हैं। आज भी प्रबन्ध इन्हीं के हाथ में है। ये प्रथम श्रेणी की आलोचिका हैं। बड़ी गहराई से किसी चीज को देखती हैं। मैं इनके निर्णय पर भरोसा भी बहुत करता हूँ। पढ़ने का इन्हें खूब शौक है, पर समयाभाव से पढ़ कम पाती हैं। साहित्यिक होने पर भी लिखतीं कभी नहीं। यह अच्छा ही है, दोनों लिखें तो काम नहीं चल सकता था। जब वह प्रेस और प्रकाशन सँभालती हैं, मेरा काम केवल लिखना है। इसी कारण मैं निश्चिन्त होकर निरन्तर लिखता चला जा रहा हूँ।"

मैंने उनका पर्याप्त समय ले लिया था और आवश्यक बातें भी कर चुका था। यों उनसे बातें करते हुए कोई आदमी ऊब

नहीं सकता, पर अपने और उनके समय का ध्यान रखकर विदा लेना ही उचित समझा।

यशपाल जी की गिनती में उन लेखकों में करता हूँ जो हिन्दी की ख्याति को प्रेमचन्द जी के बाद आगे बढ़ाने में समर्थ हुए हैं। उनके लेखन का अपना ढंग है। वे विदेशी क्रांतिकारी लेखकों की परम्परा के भारतीय अग्रदूत हैं और उनके दृष्टि-कोण की व्यापकता तथा अनुभूति की सचाई बड़े-बड़े लेखकों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है।

अक्तूबर १९५२]

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया

नवम्बर का महीना था। प्रातःकाल ८ बजे ही मैं श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया से मिलने उनके निवास-स्थान ३, सिकन्दरा रोड, नई दिल्ली पहुँचा। रिक्शा से उतरकर कोठी के भीतर प्रवेश किया तो लगा कि किसी महल के अन्दर हूँ, क्योंकि डालमिया-भवन का विस्तार डिब्बेनुमा अंग्रेजी ढंग के उन मकानों से, जिन्हें कोठी कहा जाता है, बहुत अधिक है। सेवक और सेविकाएँ और द्वारपाल उसी प्रकार चक्कर लगा रहे थे जैसे किसी राजा के महल में लगाते हैं। कोठी के एक ओर के भाग में मरम्मत भी हो रही थी। कोठी के बराबर दाईं ओर टेनिस-कोर्ट था और सामने लम्बा-चौड़ा लॉन। एक बार तो मैं इस विस्तृत भवन के विस्तार से आश्चर्य-चकित-सा रह गया। तभी मेरे मन में आया कि भारतीय व्यापार-जगत् की तीन-चार बड़ी हस्तियों में से एक का यह भवन है, इसलिए इसका इतना विशाल होना अस्वाभाविक नहीं है।

'चिट' एक चपरासी को दी और प्रतीक्षा करने लगा। सोच यह रहा था कि शायद भीतर से बाहर किसी कुर्सी पर बैठने को कहा जायगा और बताया जायगा कि थोड़ी देर प्रतीक्षा करें। ऐसा इसलिए सोचा था कि मुझे इण्टरव्यू लेते समय अनेक

स्थानों पर प्रायः ऐसा ही अनुभव हुआ है। लेकिन मैंने देखा कि कुछ सेकिण्डों में ही मुझे चपरासी अपने पीछे कोठी के किनारे की ओर लिये जा रहा है। मैं वहाँ पहुँचता हूँ, जहाँ कि एक वृक्ष की छाया में एक बेंत की मेज और तीन-चार बेंत की ही कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। मेज पर कुछ दैनिक पत्र रखे थे। एक कुर्सी पर एक अत्यन्त सरल और सौम्य नारी बैठी है। श्वेत साड़ी, हाथों में कांच की साधारण-सी लाल चूड़ियां और पैरों में पुरानी चप्पलें। वह मेरे पहुँचते ही कुर्सी से खड़ी होकर बैठने का संकेत करती है और मैं अभिवादन के साथ बैठ जाता हूँ। दूर पर एक सेविका भी पेड़ के सहारे खड़ी दिखाई देती है। शायद इसलिए कि स्वामिनी की कोई आज्ञा हो तो तत्क्षण उसका पालन कर दिया जाय। इतने विशाल भवन में, इतने बड़े धनपति की पत्नी और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गद्य-काव्य-लेखकों में गिनी जाने वाली श्रीमती दिनेशनन्दिनी को इस सादी-सी वेश-भूषा में देखकर प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति कुछ विचित्र हो जायगी। मेरी भी हुई, किन्तु यह सोचकर कि साहित्यकार वैभव के प्रति विरक्ति का ही दृष्टिकोण रखता है, मैंने अधिक देर तक विचारों की ऊहापोह में पड़ा रहना उचित न समझा और उन्हें अपने इण्टरव्यू-कार्य के विषय में संक्षिप्त रूप में बताना आरम्भ किया।

उन्होंने कहा— "पहले नाश्ता कर लीजिये तब विचार-विनिमय होगा।" ऐसा कहकर सेविका को नाश्ता ले आने की आज्ञा दी। सेविका नाश्ता लाने के लिए चली गई थी और वे कह रही थीं— "मेरी कृतियों के भीतर जाए बिना मेरे कलाकार को पकड़ना कठिन है, मैं अपनी कृतियों में ही जीती हूँ, मेरी कृतियों में मेरे हर्ष-शोक और हास्य-रुदन के अनेक रूप हैं, जिन्हें मैं वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकती।"

इतना कहकर वे चुप हो गईं। सेविका नाश्ता ले आई थी, मैं नाश्ता कर रहा था और वे दैनिक पत्र देखने में व्यस्त थीं। नाश्ते से निश्चिन्त होकर मैंने कहा—"यह ठीक है कि प्रत्येक कलाकार अपनी कृतियों में निहित रहता है और उसका वास्तविक स्वरूप बिना उनके भीतर जाए नहीं मिल सकता, लेकिन उसके विकास-क्रम की बाह्य रेखाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं। जिन परिस्थितियों ने कलाकार का निर्माण किया है उनके विषय में तो वह स्वयं ही बता सकता है, कृतियाँ नहीं। कृतियाँ भी बता सकती हैं और ऐसे विज्ञान का भी जन्म हो चुका है, जिसके द्वारा कलाकार की हस्तलिपि तक से उसके मानसिक गठन का पता लगाया जा सकता है, परन्तु फिर भी जीवित लेखक यदि अपनी परिस्थितियों का स्वयं विवरण दे दे तो उससे अधिक प्रामाणिक कार्य भावी पीढ़ी के लिए दूसरा नहीं हो सकता। कारण यह है कि विज्ञान तो किसी अंश में गलत भी हो सकता है पर लेखक का अपना दिया हुआ ब्यौरा गलत नहीं हो सकता, क्योंकि लेखक स्वयं उसको भोग चुका होता है।"

मेरे इन विचारों से सहमत होते हुए वे बोलीं, "अपने विषय में कुछ कहना कठिन है पर फिर भी आपका आग्रह है तो आप जो भी पूछेंगे उस पर मैं कुछ कह दूँगी।"

जब मैंने यह देखा कि वे अपने विषय में कुछ कहने को तत्पर हैं, तब सबसे पहले उनके बाल्य-काल की परिस्थितियों के विषय में मैंने जानकारी चाही। जिस पर उन्होंने कहा—"सबसे पहली बात तो यह है कि मैं अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान हूँ और अपनी पारिवारिक स्थिति काफी अच्छी होने के कारण मुझे लाड-प्यार का अभाव नहीं रहा। अपने माता-पिता के यहाँ ही नहीं, अपने मामा के यहाँ भी मुझे पर्याप्त दुलार मिला, क्योंकि

उनके भी कोई सन्तान नहीं थी। इस परिस्थिति के कारण मुझे अपनी इच्छा के अनुकूल चलने की आदत सी हो गई। अपने मामा के यहाँ मैं दस वर्ष तक रही, उसके बाद उनका देहान्त हो गया। उनका देहान्त मेरे जीवन की सबसे पहली दुःखद घटना थी, जिसके कारण मैं बहुत दिनों तक अपने को सँभालने में समर्थ न हो सकी। मेरे मामा-मामी पुराने विचारों के थे, परन्तु मेरी माँ पढ़ाने के पक्ष में थीं। उन्होंने मुझे स्कूल भी भेजा और घर पर भी मास्टर रखकर पढ़ाई का प्रबन्ध किया। उस वातावरण में, जब कि लड़कियों की शिक्षा के प्रति समाज में काफी उपेक्षा थी, पढ़ाई का प्रबन्ध करना कम साहस की बात नहीं थी, परन्तु मेरी माता जी ने सब बातों से ऊपर उठकर भी मेरी शिक्षा का प्रयत्न निरन्तर जारी रखा।

उदयपुर से मैं अपने पिता जी के साथ नागपुर चली गई। वे नागपुर-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। वहाँ उन्होंने मुझे मिशन स्कूल में भर्ती करा दिया। पिता जी छुट्टियों में उदयपुर चले आते थे इसलिए ३ साल तक मैं जिस कक्षा में थी उसी में रही, परीक्षा पास करके ऊपर की कक्षा में न पहुँच सकी। उन्हीं दिनों पिता जी के विलायत जाने का प्रसंग उठ खड़ा हुआ और वे सपरिवार नागपुर से उदयपुर चले आए। वहाँ भाई के पढ़ाने के लिए मास्टर आते थे। जब उसे टाइफाइड हो गया तो मास्टर साहब ने मुझे पढ़ाना आरम्भ किया और कुछ ऐसी बातें बताईं जिनसे मुझे अंग्रेजी के प्रति अभिरुचि तथा शिक्षा के प्रति प्रेम हुआ। उसी समय मेरे मन में यह आया कि अपने अस्तित्व की रक्षा और व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। मैंने मास्टर साहब से मैट्रिक की परीक्षा दिलाने का अनुरोध किया। परीक्षा के केवल दो महीने थे और मैंने तीसरी क्लास तक ही नियमित शिक्षा

पाई थी पर मेरे उत्साह को देखकर वे राजी हो गए। मैंने दो महीने में परीक्षा दी परन्तु गणित और भूगोल में रह गई। अपने समाज में मैट्रिक की परीक्षा देने वालों में सर्व प्रथम लड़की थी, इसलिए उदयपुर में इससे काफी हलचल मची।

गणित के कारण सात वर्ष तक फिर मुझे मैट्रिक की परीक्षा देने का साहस नहीं हुआ, लेकिन इन दिनों एक ऐसी घटना घटी जिसने मुझसे 'निराश आशा' नाम की एक गद्य-कृति लिखवा दी। उस कृति को मैंने अपने मास्टर साहब को दिखाया तो उन्होंने बड़ी प्रशंसा की और मुझे लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने ही उसको गद्य-काव्य का नाम दिया। उनका प्रोत्साहन पाकर मैं नित्य-प्रति लिखने लगी। 'शबनम' और 'मौक्तिक माल' मेरे इसी काल की रचनाएँ हैं। यह उस समय की कृतियाँ हैं, जब एक तरह से मुझे अशिक्षित भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। कभी-कभी तो यह अनुभव होता है कि आज की अपेक्षा उस समय मैं अधिक ज्ञान-सम्पन्न थी। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उस समय उत्साह का आधिक्य था। उस समय औत्सुक्य भी बड़ा प्रबल था, आज जो मेरी भूलने की प्रवृत्ति है उसके स्थान पर तब अधिकाधिक जानने की प्रवृत्ति थी। तब मैं दो-तीन वर्ष बीमार भी रही थी। बीमारी में बिस्तर पर पड़े-पड़े भी मैंने सैकड़ों ही चीजें लिखीं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से मेरी 'शबनम' नामक जिस पुस्तक पर सन १९३७ में सेकसरिया-पुरस्कार मिला था, वह मैट्रिक से पहले की रचना है।

सन् १९३८ में मैं फिर नागपुर गई। वहाँ मेरी एक सहेली थी उसने मुझसे कहा कि अब मैट्रिक में गणित नहीं रहा, इसलिए इस परीक्षा में बैठ जाओ। संयोग की बात है कि तब भी परीक्षा में दो महीने थे। मेरा फार्म भी बड़ी मुश्किल से भरा

जा सका, लेकिन मैंने सरलता से मैट्रिक पास कर लिया। चार साल तक मैंने कालेज में अध्ययन किया, लेकिन पर्दे की आड़ी होने से कालेज-जीवन के स्वच्छन्द वातावरण का प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ सका। फिर एम० ए० भी प्राइवेट ही किया। इसका परिणाम यह है कि मेरा स्कूल तथा कालेज का जीवन कुछ नहीं के बराबर है। सम्भवत: इसीलिए मेरे भीतर आधुनिक सभ्यता के स्वच्छन्द वातावरण के संस्कार बिलकुल नहीं हैं।"

"क्या आप यह बता सकेंगी कि आपकी पहली रचना कब और किस पत्र में छपी और उस समय आपकी मनःस्थिति क्या हुई? साथ ही उस समय प्रोत्साहन देने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ कह सकें तो और भी अच्छा हो।" मैंने कहा।

"जैसा कि मैं कह चुकी हूँ, मेरी सबसे पहली रचना 'निराश आशा' थी, जो 'त्याग-भूमि' में 'मेरे मुकुल' शीर्षक से छपी थी। उसके बाद 'त्याग-भूमि' के तत्कालीन सम्पादक श्री रामनाथलाल 'सुमन' मुझसे मिले और मेरी बहुत सी रचनाएँ सुनकर प्रकाशनार्थ ले गए। यह सन् १९३० की बात है। यों मुझे अपने नाम की कभी चिन्ता नहीं रही, लेकिन 'त्याग-भूमि' में प्रकाशित वह रचना मुझे स्वयं बहुत अच्छी लगी थी। उसके बाद 'त्याग-भूमि', 'माधुरी', 'सुधा' और 'चाँद' में वर्षों तक मेरी रचनाएँ निरन्तर निकलती रहीं। उन दिनों आज का-सा वातावरण नहीं था। लेखकों को खूब प्रोत्साहन मिलता था। इसका मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। इन्दौर-सम्मेलन में मुझे श्री शांतिप्रिय द्विवेदी जी ने गद्य-काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए निमंत्रित किया था। वहीं श्रीमती महादेवी वर्मा ने बड़े अपनत्व के भाव से मेरी रचनाओं के प्रकाशित न होने पर आश्चर्य प्रकट किया और शीघ्र-से-शीघ्र मेरे गद्य-काव्यों को पुस्तकाकार देखने की अभिलाषा प्रकट की। उस समय मुझे उनके प्रति अत्यधिक श्रद्धा हुई

और मैं पहली बार किसी नारी के ज्ञान और सौजन्य के प्रति नतमस्तक हुई। मैंने अपनी समस्त रचनाएँ उनके पास भेज दीं और प्रकाशन का भार भी उन्हीं को सौंप दिया। यही नहीं उनके मना करने पर भी उनके प्रति अपनी श्रद्धा के परिणाम-स्वरूप अपनी प्रथम पुस्तक 'शबनम', जिस पर मुझे पुरस्कार मिला था, मैंने उन्हीं को समर्पित की।

यहाँ एक बात का उल्लेख करना मैं भूल गई। वह यह है कि पत्रों में ज्यों-ज्यों मेरी रचनाएँ छपती गईं, मेरे पिता जी द्वारा अधिकाधिक आश्वासन मिलता गया। मेरा यह विश्वास है कि यदि उनका यह प्रोत्साहन मुझे न मिलता तो सम्भवतः मेरा विकास अधिक नहीं हो पाता।"

"आपने अपने पिता जी के द्वारा प्रोत्साहन पाने की बात कही है तो क्या आपको अपनी माता जी से किसी प्रकार की साहित्यिक प्रेरणा नहीं मिली।" मैंने पूछा।

उन्होंने कहा—"मेरी माँ में कल्पना बड़ी तीव्र है, पर सृजन-शक्ति पिता जी में अधिक है। इसलिए अपने साहित्यिक विकास का श्रेय पिता जी को ही देती हूँ। वे स्वयं भी अंग्रेजी में कविताएँ और कहानियाँ बहुत अच्छी लिखते रहे हैं। उनकी प्रशंसा उस समय भी 'लन्दन-टाइम्स'-जैसे अच्छे पत्रों ने की थी। हिन्दी भी वे काफी चुस्त और ओजपूर्ण लिख लेते हैं। वे मेरी रचनाओं को स्वयं नकल करते थे, उनमें संशोधन-परिवर्तन करते थे और छपने भेजते थे। उन्होंने मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी। उन्हीं के कारण मैं घर में 'रूलिंग फेक्टर' रही। घर में चारों भाइयों और तीनों बहनों से बड़ी होने पर भी शादी की बात चलने पर जब मैंने मना कर दिया और घर और गाँव में इस बात पर संघर्ष हुआ तो पिता जी ने मेरा ही पक्ष लिया। वस्तुतः पिता जी वह सब-कुछ करने को तैयार थे, जो-कुछ मैं चाहती थी। यों तो

मेरे पूर्व संस्कारों को ही मेरे साहित्यिक होने का श्रेय है, पर पिता जी ने मेरे साहित्यिक बनने में असाधारण सहायता दी है, यह स्वीकार करते हुए मुझे संकोच नहीं, प्रसन्नता है।"

जब मैंने उनसे यह पूछा—प्रत्येक लेखक अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ पद्य में करता है पर आपने गद्य से किया, इसका क्या कारण है तो उन्होंने संकोच के साथ कहा—"पद्य में अधिकांश रचनाएँ सार-हीन होती हैं। कुछ का तो सिर-पैर भी नहीं मिलता, यह बात मैं सधे हुए लेखकों के लिए नहीं कह रही हूँ वरन् अधिकांश अनभ्यस्त कवियों के सम्बन्ध में यह मेरा मत है। इसके विपरीत गद्य में व्यवस्था रखनी पड़ती है। वह छंद-बन्धन से मुक्त होने पर भी एक 'आइडिया' के बिना नहीं चल सकता। दूसरी बात यह है कि मुझे प्रेरणा ही गद्य की हुई। कविता लिखने का मुझे ज्ञान ही नहीं था। मेरा गद्य-काव्य मात्र प्रेरणा का परिणाम है। जो मन में आया लिख दिया। जिनमें से कई चीजें मैं तब समझती भी नहीं थी। इसी को अपने यहाँ पुनर्जन्म का संस्कार कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि मेरी अभिव्यक्ति अनायास गद्य-काव्य के रूप में होने लगी, जो साधारणतया होने वाली पद्य-काव्य की अभिव्यक्ति से भिन्न होने पर भी मेरी दृष्टि में अस्वाभाविक नहीं।"

"लेकिन आजकल तो आप भी पद्य ही लिख रही हैं।" मैंने कहा।

वे बोलीं, "मेरे पद्य की ओर मुड़ने की भी एक कहानी है। एक बार प्रसिद्ध सुगायक दिलीपकुमार राय 'सोशियल गैदरिंग' में जबलपुर आए। उन्होंने मुझसे कहा कि यदि तुम गीत लिखो तो जैसे हम सूर तथा मीरा के गीत गाते हैं वैसे ही तुम्हारे गीत भी गायेंगे। तब मैंने एक गीत लिखा, जिसे उन्होंने बहुत सुन्दर ढंग से गाया। उस गीत का रिकार्ड भी है, क्योंकि उसे

शुभा-लक्ष्मी ने 'मीरा' फिल्म में मीरा की भूमिका में गाया था। श्रीयुत दिलीपकुमार के गाने से प्रभावित होकर मैंने निरन्तर पद्य लिखना शुरू कर दिया और अब मुझे पद्य लिखने में ही सरलता होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं गद्य-काव्य नहीं लिखती, वह तो सम्भवतः कभी बन्द नहीं हो सकता, क्योंकि वही तो मैं अपने का पूर्ण रूप से व्यक्त कर पाती हूँ।"

मेरे यह पूछने पर कि उन्हें कौन-कौन से लेखक विशेष प्रिय हैं, उन्होंने बताया, "हिन्दी में मुझे महादेवी और पंत की रचनाएँ विशेष अच्छी लगती हैं। रामकुमार के भी कोई-कोई गीत प्रभावित करते हैं। इनमें भी महादेवी ही मुझे विशेष प्रिय हैं। संस्कृत के मुझे सभी प्रसिद्ध कवि भाते हैं। अंग्रेजी में शैली, कीट्स और वर्ड्सवर्थ को मैंने बार-बार शौक से पढ़ा है। गद्य-लेखकों में अज्ञेय का गद्य मुझे सबसे अच्छा लगता है। उसमें भावना का बाहुल्य बहुत घना है। 'शेखर' में जो तड़प है वह मुझे कहीं नहीं मिली।"

"अब तक गद्य और पद्य की लगभग एक दर्जन कृतियाँ आपने दी हैं, इन सबमें आपको वह कृति कौन सी है जिसे लिख-कर आपको सर्वाधिक संतोष हुआ है?" मैंने आगे प्रश्न किया।

उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया, "जैसे किसी माँ के लिए यह बताना कठिन है कि उसे कौन सा बालक विशेष प्रिय है वैसे ही किसी लेखक के लिए यह बताना कठिन है कि उसे कौन-सी कृति से संतोष हुआ है। मुझे सभी समान रूप से प्रिय हैं, फिर भी गद्य-काव्यों में 'शबनम' अधिक लोकप्रिय है। वैसे मुझे 'उन्मन' में अधिक गाम्भीर्य मिलता है। कविताओं में 'मनुहार' की रचनाएँ मेरे मन के अधिक निकट हैं।"

श्रीमती दिनेशनन्दिनी के गद्य-गीतों और कविताओं को पढ़ने पर मुझे एक विचित्र बात यह मिली कि प्रकृति के प्रति

उनका कोई विशेष अनुराग नहीं। उनकी अभिव्यक्ति के छाया-वादी होने पर भी प्रकृति से यह अलगाव क्यों है यह जानने की मेरी बड़ी इच्छा थी। इसलिए मैंने उनसे पूछा, "आपके काव्य में प्रकृति उपेक्षित क्यों है ?"

उन्होंने बड़े सहज भाव से बताया, "मैं प्रकृति से बहुत कम प्रभावित हूँ, क्योंकि मेरा बाल्य-काल और उसके बाद का अधिकांश समय भी पर्दे में बीता और प्रकृति के साथ तादात्म्य अनुभव करने का अवसर मुझे नहीं मिला। कदाचित् इसीलिए मैं उस पर बहुत कम लिख सकी हूँ। मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध मानव के उस पक्ष से है जिसका स्रोत वेदना है, व्यथा है। वही निरावरण होकर मेरे साहित्य में प्रतिष्ठित हो गई। मैं तो मानव की वेदना में ही डूब जाती हूँ। वेदना से मेरा गहरा नाता भी अकारण नहीं है। इस वर्ष की अवस्था में मुझे उन मासा जी की मृत्यु की टेस लगी, जिनके प्रेम और वात्सल्य में मैं सब-कुछ भूले रहती थी। जब नागपुर में मुझे पिता जी ले गए तो वहाँ मैं बराबर उदासी में समाई रहती थी। किशोरावस्था में हवाई किले बनते रहे और पृथ्वी पर उतरने का कभी खयाल तक न आया। मुझे पूर्णता की खोज का शौक लगा और उसे अपने में न देखकर औरों में देखने की गलत प्रवृत्ति हुई, जिसमें वर्ष-के-वर्ष बरबाद हो गए। मैंने देखा यह कि जो सम्पर्क में आया उसी में कमी जान पड़ी और जो नहीं मिला उसमें पूर्णता। परिणाम यह हुआ कि मानव के प्रति अविश्वास की भावना दृढ़ होती गई, फिर भी आचरण में मैंने मानव के प्रति कभी उदासीनता अथवा अविश्वास नहीं दिखाया, क्योंकि मैंने निरन्तर पुरुष में ऐसे पौरुष की कल्पना की जो पुरुषोत्तम का गुण है।"

"तो क्या आपकी रचनाओं में तड़पनमयी मांसलता के गहरे रंग का कारण पुरुष के पौरुष की पूजा की भावना ही

मान लिया जाय ?"

"नहीं, मैं इसमें सहमत नहीं हूँ। आप और अन्य लोग जिसे मांसलता समझते हैं उसे मैं मांसलता नहीं समझती क्योंकि मैं प्रेम द्वारा ही उस मुक्ति के मार्ग पर पहुँचने की कल्पना करती हूँ, जिस पर लोग अनेक कठिन साधनों से पहुँचते हैं। फिर मेरी यह समझ में नहीं आता कि मेरी रचनाओं की मांसलता को लोग केवल पार्थिव दृष्टि से क्यों देखते हैं ? सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के सौन्दर्य का मुझसे भी अधिक मांसल वर्णन किया है, जिसे पढ़कर सौन्दर्य-प्रेमी मुग्ध ही नहीं, तन्मय तक हो जाते हैं। मेरी दृष्टि में सौन्दर्य-वर्णन में पार्थिव और अपार्थिव का अन्तर करना अपने विकृत और अनुदार दृष्टिकोण का परिचय देना है तथा आलोचना के के लिए आलोचना करना है। जिस समय मैं बाल्य और किशोर-काल में अविकल रूप से लिखती थी उस समय मैंने पार्थिवता अथवा अपार्थिवता की बात नहीं सोची थी। मैं ही क्या सम्भवतः कोई भी उस अवस्था में ऐसा नहीं कर सकता। आज मैं पार्थिवता और अपार्थिवता का अन्तर समझती हूँ तो मुझे लगता है कि मेरी १५ से लेकर २८-२६ तक की उम्र की जो रचनाएँ हैं उनमें आध्यात्मिकता कम हो सकती है और मांसलता अधिक, परन्तु पीछे की रचनाओं में इसके विपरीत आध्यात्मिकता ही अधिक मिलेगी। वैसे जैसा मैं कह चुकी हूँ मैं ऐसा कोई अन्तर करना उपयुक्त नहीं समझती, क्योंकि आध्यात्मिकता आखिर है क्या ? लक्ष्य को छोड़कर अलक्ष्य में तल्लीनता, उस तक पहुँचने की छटपटाहट का नाम ही तो आध्यात्मिकता है। मैं तो यहाँ तक मानती हूँ कि प्रेम, भक्ति और आध्यात्मिकता एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम हैं। गोपियों के प्रेम की भाँति मेरी रचनाओं में भी प्रेम की ही पीड़ा

है और जैसे गोपियों के लिए वही जीवन का चरम आनन्द था वैसे ही मेरे लिए मेरी रचनाओं की पीड़ा की मिठास आध्यात्मिक आनन्द है। मेरी दृष्टि में मेरी रचनाएँ इसी रूप में ग्रहण की जानी चाहिएँ। इस विषय में और कुछ न कहकर मैं केवल इतना कहूँगी कि मेरी रचनाओं में प्रेम के अर्थों का जितना विस्तृत विवेचन है, उतना अन्यत्र कम मिलेगा।"

उनकी गद्य काव्यात्मक कृतियों की भाषा में उर्दू-फारसी का ऐसा पुट है कि सहसा पाठक को यह भ्रम हो सकता है कि उनकी लेखिका उर्दू की रूमानी शायरी में आकंठ निमग्न है। मुझे भी यह भ्रम था। जब इस विषय में बातचीत हुई तो उन्होंने कहा—"न जाने कैसे जिन शब्दों का अर्थ तक मैं न जानती थी उन्हीं का प्रयोग कर गई। 'शबनम', 'मौक्तिक माल' आदि रचनाएँ तो उस काल की हैं जब मैंने मैट्रिक भी पास नहीं किया था और मुझे हिन्दी का भी वैसा ज्ञान नहीं था जैसा एक लेखक को होना चाहिए। फिर मैंने किसी से प्रभावित होकर भी कभी नहीं लिखा, ऐसा लगता है कि सहसा होने वाले विस्फोट की तरह भाषा स्वतः ही यह रूप ग्रहण कर गई। बाद को जब उर्दू की चीजें पढ़ीं तो मुझे और भी अधिक मिठास का अनुभव हुआ और मैंने उर्दू-फारसी के शब्दों का अधिक खुलकर प्रयोग किया। मेरी सम्मति में अच्छे शब्द, चाहे वे किसी भी भाषा के हों, उनका प्रयोग उचित है। इस विषय में बन्धन न होना चाहिए। भाषा अभिव्यक्ति के उस माध्यम का नाम है, जो सुन्दरता और सरलता के साथ पाठक तक मन की बात पहुँचा दे। व्यक्तियों का द्वेष भाषा तक क्यों पहुँचता है, यह मैं आज तक नहीं समझ पाई। यद्यपि पाकिस्तान बनने के बाद से मेरी भाषा में उत्तरोत्तर उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग कम होता चला गया है तथापि अब भी मैं किसी भाषा के शब्दों के

बहिष्कार के पक्ष में नहीं हूँ। 'डोपहरिया के फूल' के बाद की मेरी रचनाओं में उर्दू-फारसी शब्दों के अभाव का कारण यह भी है कि मेरे पति ऐसे शब्दों के बिलकुल पक्ष में नहीं हैं, यद्यपि आज भी उनके प्रति मेरा आकर्षण ज्यों-का-त्यों है।"

यह पूछने पर कि आप क्यों और कैसे लिखती हैं, वे भावावेश में बोलीं, "मैं कैसे लिखती हूँ, क्या लिखती हूँ यह ठीक से बता सकने पर भी यह जानती हूँ कि अभी तक मेरी कल्पना मुझ तक ही सीमित है। फिर भी दुःख और सुख जैसा व्यक्ति का है वैसा सृष्टि का। यह शाश्वत है, यही विचार मुझे लिखने का उत्साह देता है और मैं अपने ही लिए लिखती हूँ, आदत से लाचार होकर लिखती हूँ, वही लिखती हूँ जिसके बिना जीवन असम्भव नहीं तो कठिनतर हो सकता है। अनेक दुविधा, आशंका होते हुए भी मुझे जीवन से भयंकर अनुराग है और उसी को सुवासित और जाग्रत रखने का यह आयोजन है।

लिखना मेरे जीवन का अंग है क्योंकि जो कह नहीं सकती उसे लिख देती हूँ। परिश्रम से लिखती नहीं, जब लिखने की प्रेरणा होती है, लिखती हूँ। 'अर्ज' होने पर दिन-रात में कभी भी लिखती हूँ। लिखने के लिए कोई विशेष कागज या कलम नहीं चाहिए। पास पड़ी हुई किसी भी चीज पर लिख देती हूँ। पैन्सिल हो या कलम, किसी से भी लिख लेती हूँ। यह जानकर आप आश्चर्य करेंगे कि मुझे एकान्त प्रिय नहीं है। अधिकतर लोगों से बातचीत करते हुए ही लिखना पसंद करती हूँ। लिखते समय लोग पास बैठे रहते हैं। मैं तीन-चार लाइन लिखकर बात कर लेती हूँ और फिर लिखना आरम्भ कर देती हूँ। इसका कारण यह है कि लोगों के बैठे रहने पर भी मैं यह सोचती हूँ कि मैं अकेली हूँ।

लिखने के बाद दिल हल्का हो जाता है। अपनी लिखी हुई चीज जब पढ़ती हूँ तो कुछ समय के लिए बुरी-से-बुरी घटना भूल जाती हूँ। मैं इसी में अपनी सान्त्वना देखती हूँ। लिखित कृतियाँ मुझे अपने बच्चों से भी अधिक अच्छी लगती हैं। मेरी कृतियों में कमियाँ हैं, पर मुझे उनमें मोह बहुत है। मैं यह नहीं चाहती कि मेरी कृतियों को अधिक-से-अधिक लोग पढ़ें, पर यह अवश्य चाहती हूँ कि कम-से-कम अपने लोग अवश्य पढ़ें।"

"तो क्या आप यह समझती हैं कि आपको आपके अपने लोग गलत समझते हैं ?"

"नहीं, ऐसा नहीं है कि मुझे मेरे लोग गलत समझते हैं, पर ऐसा हो सकता है। इसलिए अपनों की समझ को ठीक रखना भी जरूरी होता है। इसके साथ ही उन्हें मेरी रचनाएँ पढ़कर प्रसन्नता भी होती है, जो मेरे लिए सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु है।"

बात आगे चली तो उन्होंने अपनी रचनाओं की प्रेरणा के सम्बन्ध में मुझे बताया, "लिखने की प्रेरणा मुझे हर्ष की बात से नहीं मिलती, शोक की बात से मिलती है; क्योंकि मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मेरे अन्तर पर शैशव से शोक के बादल ही घुमड़ते रहे हैं। मेरे जीवन में दस मिनट भी ऐसे नहीं होते जब सुख के साथ दुःख की अनुभूति नहीं होती हो। बड़ी गहरी वेदना मेरे अन्तर में है। वर्षों से मैं ऐसा देखती हूँ कि हर क्षणिक खुशी के बाद दुःख का तीव्र उद्वेग होता है। यही कारण है कि मैंने मृत्यु और विछोह पर कई गीत लिखे हैं। विछोह को तो मैं एक प्रकार की मृत्यु ही मानती हूँ। मन की इस स्थिति के कारण मेरे मन की अकेलेपन की गहरी भावना को अध्ययन, दर्शन और समझ कोई भी तोड़ने में समर्थ न हो सके। पचासों के बीच में अकेलापन महसूस होता है। अकेलेपन

के अनुभव करने में बल की अपेक्षा निर्बलता का ही आधिक्य रहता है, लेकिन उन्हीं निर्बल क्षणों से मैं बल खींचती हूँ। मैंने कम-से-कम यह जान लिया है कि मैं अकेली हूँ। वर्षों यह रहा है कि मेरे भीतर से रोने की आवाज आ रही है। यह अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि मैं समझती हूँ कि बच्चे को भी हँसने से पहले रुदन की अनुभूति होती है और उस अनुभूति का परिणाम ही उसका हास्य होता है। कदाचित् इसीलिए दुःख मुझे शाश्वत जान पड़ता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मैंने सुख का अनुभव किया नहीं। बिना सुख के तो दुःख की अनुभूति होनी ही कठिन है, क्योंकि यह दोनों परस्पर सापेक्ष वस्तुएँ हैं। हाँ, अब मैं उतनी भावुक नहीं हूँ जितनी पहले थी। पहले ठेस लगती थी तो मैं तड़प जाती थी, अब मैं उसकी उपेक्षा कर सकती हूँ।

अब तो मेरी कल्पना भी संयत हो गई है। एक समय था जब मैं काल्पनिक जगत् में जीवन के यथार्थ को भूली रहती थी, पर अब यथार्थ ने जीवन की आँखें खोल दी हैं। अब मैं शारीरिक श्रम से पहले की तरह बचना नहीं चाहती वरन्, उसे मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मानती हूँ। मुझे धूप प्रिय लगती है और बादलों का दिन अवसादपूर्ण। और मेरा सारा समय प्रायः घर के बाहर ही वृक्षों की छाया में बीतता है।"

अब मुझे मालूम हुआ कि क्यों उन्होंने एक वृक्ष के नीचे, जहाँ हल्की-हल्की धूप आ रही थी, साहित्य-चर्चा के लिए प्रबन्ध किया था। मेरा अनुमान है कि घर के बाहर अधिक समय तक उन्हें जो रहना अच्छा लगता है वह इसलिए कि उनकी नारी घर की चहारदीवारी में घुटन का अनुभव करती है और अपनी अभिव्यक्ति की तरह उन्मुक्त वातावरण चाहती है। यहाँ मुझे श्रीमती महादेवी वर्मा का ध्यान आ गया, जिन्हें रातें विशेष प्रिय जान पड़ती है। इन दोनों वेदना की कवयित्रियों में यह रुचि का

स्वाभाविक अन्तर ही उनकी सृजित सामग्री के भेद पर प्रकाश डालता है। श्रीमती महादेवी वर्मा में इसलिए ही रहस्यात्मकता अधिक है, इसके विपरीत दिनेशनन्दिनी में और खुलापन विशेष रूप से मिलता है। महादेवी आत्मा और परमात्मा के मिलन-बिछोह के रहस्यमय लोक में विहार करती हैं जबकि दिनेशनंदिनी में प्रेम का लौकिक पक्ष प्रबल है। रात वैसे ही रहस्यमयी होती है और दिन स्पष्ट सब-कुछ प्रत्यक्ष सम्मुख रख देने वाला। महादेवी और दिनेशनन्दिनी में एक अन्तर और है, महादेवी जी खूब हँसती है; खूब बात करती हैं। इतनी अधिक हँसती हैं, इतनी अधिक बात करती हैं कि उनकी मानसिक वेदना की छाया भी देखने वाले को न मिले, पर दिनेशनंदिनी को मैंने लगातार घंटों की बातचीत में कभी खुलकर हँसते नहीं पाया। उनकी बात भी नपी-तुली होती है। हाँ, भावावेश में अपना पक्ष समर्थन करना उनका स्वभाव है। यथार्थ जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी महादेवी से भिन्न है। सम्भवतः इसका कारण यह भी है कि महादेवी ने अपनी असाधारणता को साधारणता में कभी पैर नहीं रखने दिया जब कि दिनेशनंदिनी ने साधारणता को खुले दिल से अपनाकर अपना जीवन-पथ बदलने का भी साहस किया और उसके द्वारा जीवन का यथार्थ अनुभव प्राप्त किया। इसीलिए महादेवी के काव्य में जीवन के प्रति विरक्ति होते हुए भी वस्तुतः जीवन के प्रति आसक्ति अधिक मिलती है जब कि दिनेशनंदिनी के काव्य में जीवन के प्रति आसक्ति होते हुए भी जीवन के प्रति विरक्ति अधिक मिलती है।

साहित्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर उन्होंने जो उत्तर दिया उससे उनकी ईमानदारी का पता लगता है। उन्होंने कहा – "सामाजिक जीवन

का मेरा अनुभव ही नहीं है तो मैं कैसे लिखती। बिना अनुभव के कुछ लिखना बेईमानी है। इसलिए सामाजिक जीवन पर लिखने की मेरी इच्छा ही नहीं हुई। मैं तो व्यक्तिगत ही लिखती हूं और उसी को जग की अभिव्यक्ति समझती हूँ। बाह्य जीवन की कठिनाइयों का मुझे अनुभव ही नहीं है और कल्पना मुझे आती नहीं, इसलिए व्यक्तिगत अनुभूति की व्यंजना ही मेरे साहित्य का प्राण है। कुछ लोग मेरी कृतियों को असामयिक मानते हैं पर जो विरह आज है वह कल भी रहेगा, क्योंकि भावना शाश्वत है। मैं कभी कोशिश से नहीं लिख सकी। आज तक कोई ऐसी चीज नहीं लिखी जो मेरे ऊपर न गुजरी हो। मेरा जीवन बड़ा कुण्ठित रहा है, जिसके कारण मेरे भीतर झिझक बनी हुई है। गरीबी से मुझे बेहद भय लगता रहा है। वह भय ही मुझे भविष्य के प्रति शंकाशील रखता आया है। वैसे मेरी कृतियों में दूसरों की भी व्यथा है, पर वह मेरी बनकर ही निकली है। फिर मैं तो यह समझती हूँ कि मेरी व्यथा ही जग की व्यथा है, क्योंकि मैं भी जग का ही एक अंश हूँ। सुख और दुःख दोनों डाइजेस्टेड फार्म में निकलते हैं।"

थोड़ी देर रुककर उन्होंने इसी विषय में कहा—"मेरी रचनाओं का इस युग में भले ही आदर न हो, एक दिन अवश्य ऐसा आयगा जब उनकी पूछ होगी। मेरा सृजन अकारथ नहीं जायगा, क्योंकि भावी पीढ़ी को उसमें से बहुत-कुछ मिलेगा। मेरी कृतियाँ आत्मा की वस्तु हैं और रहेंगी। यदि मानव कोई चीज है, भावना अमर है, तो मैं कहूँगी कि मैंने मानव-मन की करुणा दिशा की बहुत सी चीजों को प्रकाश में ला दिया है। हर व्यक्ति में स्पन्दन है, रोमान्स है। मजदूरों में साम्य भावना के बावजूद प्रेम की भूख भी है। रोटी के सवाल के साथ-साथ यह प्रेम की भूख बराबर बनी रहेगी। यह अवश्य है कि मजदूरों का रोमान्स सरल है,

जब कि मध्य वर्ग का कुछ रहस्यमय। जब कभी यह अभाव नहीं रहेगा, मेरी कृतियाँ मानव-मन को संतोष देंगी और अवश्य देंगी।"

हिन्दी-साहित्य की वर्तमान स्थिति पर चर्चा चली तो उन्होंने बताया, "हिन्दी अभी शैशवास्था में ही है। अभी इसमें लेखकों का 'रिकागनीशन' नहीं होता। वह जब तक नहीं होता उन्नत होना कठिन है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लोगों का अपनी भाषा के प्रति प्रेम कम है। अब भी हम अपने साहित्य को अंग्रेजी साहित्य से हेय समझते हैं। महादेवी और पंत को शैली और कीट्स से बड़ा तो क्या बराबर भी नहीं समझते। जब कि शैली और कीट्स में प्लेन रोमान्स और प्लेन इमेजनरी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब कभी बात भी होगी, अपने कवियों और लेखकों का उदाहरण देकर हम अंग्रेजी और उर्दू के कवियों की सूक्तियाँ सुनाने लग जायँगे।"

जब मैंने उनकी रुचि और हॉबी के सम्बन्ध में उनसे पूछा तो वे बोलीं, "मुझे तीखा और चटपटा भोजन पसंद है; दूध, दही और फल आदि बहुत कम खाती हूँ। जहाँ तक रहन-सहन का सम्बन्ध है मैं १४ से २४ वर्ष तक बहुत सादी रहती थी। प्रायः खादी पहनती थी। उसके बाद रुचि में कुछ ऐसा अन्तर आया एक साड़ी को दुबारा पहनने में मुझे कुछ झिझक होने लगी। आभूषणों का भी ऐसा शौक लगा कि एक बार में कई प्रकार के आभूषण पहनना अच्छा लगने लगा। उसके बाद सन् '४४ से फिर मुझे किसी प्रकार का शौक नहीं है। अब तो मैं अधिकतर श्वेत वस्त्र पसंद करती हूँ। यों कला की दृष्टि से मैं पहनने-ओढ़ने से नफरत नहीं करती; पर मुझे कुछ रुचि नहीं है, न मैं लोगों से अधिक मिलना-जुलना पसंद करती हूँ और न बाहर जाती हूँ। बहुत देर बच्चों का साथ भी मुझे नहीं सुहाता। पहले

सम्पर्क में आए व्यक्तियों के अध्ययन का रोग था, जो महीनों परेशान किया करता था। पर अब तो मुझे किसी चीज का आश्चर्य नहीं होता। अब मैं किसी चीज को, चाहे वह कितनी ही अप्रत्याशित क्यों न हो, अस्वाभाविक नहीं मानती, जैसे यदि कोई मेरा प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति मुझे पीछे से आकर छुरा भी भोंक दे तो मानव-प्रकृति को देखते हुए मुझे उसमें क्षणिक अवसाद तो होगा ही, आश्चर्य नहीं। इस अनुभव को मैं जीवन की निधि समझती हूँ।

अपने स्वभाव के बारे में इतना और कहना चाहती हूँ कि मुझे मानव में घोर आस्था है और न मैं शास्त्रों की उलझन में ही पड़ना चाहती हूँ और न समाजिक रीति-रिवाज के बन्धन ही मुझे स्वीकार हैं। इसका कारण यह है कि क्रियात्मक रूप से मैं भले ही कुछ न कर पाई होऊँ, भावनाओं से मैं बड़ी क्रान्तिकारिणी रही हूँ। मैं मनुष्य में मानवता देखना चाहती हूँ, देवत्व नहीं। इसलिए अपनी रचनाओं में मानव के शरीर के माध्यम से ही उसकी आत्मा तक पहुँचने का मेरा प्रयत्न रहा है।"

दिनेशनंदिनी जी की शादी को लेकर अन्य लोगों की भाँति मेरे मन में भी कुछ उलझन और उथल-पुथल थी। उनसे मिलने पर अपनी जिज्ञासा शान्त करने का लोभ मैं संवरण न कर सका और मैंने उनसे प्रश्न किया, "आपने डालमिया जी से शादी क्यों की? क्या आप शादी करके अपने को सुखी अनुभव करती हैं? शादी के बाद क्या आपकी मनःस्थिति में कोई अंतर आया है और आपके सृजन में उससे कोई बाधा पड़ी है?"

मैं समझता था कि वे इस प्रश्न को टाल देंगी या इसको अति व्यक्तिगत कहकर इसका उत्तर ही न देंगी, लेकिन मेरी

धारणा के विरुद्ध उन्होंने कहा—"मुझे आश्चर्य है कि आपने इस प्रश्न को इतनी देर तक क्यों दबाए रखा। मैं तो समझती थी कि आप पहला प्रश्न मुझसे यही करेंगे जैसा कि लोग मुझसे अक्सर किया करते हैं।"

इतना कहकर उन्होंने मेरे प्रश्नों का उत्तर देते हुए बताया, "मैं इसलिए यह कहकर सत्य का गला नहीं घोटना चाहती कि शादी करते समय धन का आकर्षण मेरे लिए नितान्त उपेक्षणीय था, लेकिन उसको मैं प्रमुख कारणों में से नहीं मानती। आपको एक स्थान पर कह चुकी हूँ कि मुझे गरीबी से भय लगता रहा है, न केवल मैं बल्कि प्रत्येक वह व्यक्ति जो धन की बुराई करता है वह वस्तुतः धन की अभिलाषा से पीड़ित होता है। अधिकांश लोग धनिकों से इसीलिए घृणा करते हैं कि वे उतने ही धनिक हो जाना तो चाहते हैं, पर हो नहीं पाते। दूसरी बात यह है कि अपनी मानव-अध्ययन की प्रवृत्ति के कारण मेरे भीतर अपने पति के, जिनके विषय में नाना प्रकार के प्रवाद प्रचलित रहे हैं, जीवन को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। तीसरी बात यह है कि मैंने शादी के पूर्व कभी यह नहीं सोचा कि मैं किसी नवीन सुख की इच्छा से विवाह कर रही हूँ। एक लम्बा एकाकी जीवन बिताने के कारण मैं परिवर्तन चाहती थी, अतः बिलकुल स्वाभाविक रूप से विवाह हो गया और अब शादी के पाँच-छः साल बाद, जब मेरे चार बच्चे हैं और मैं पुरानी तस्वीरों को भूल सी गई हूँ, सुख-दुःख का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि अन्त में मैं व्यक्तिगत दुःख-सुख की भावनाओं का विश्लेषण करके उन्हें सहलाती नहीं। मैं अपने पति का आदर करती हूँ और बच्चों व घर के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करती हूँ! फिर मैंने अपने जीवन में सुख का तीव्र अनुभव किया ही नहीं जिसके कारण आज भी जब मैं दुखी होती हूँ तो उसे काल्पनिक समझकर सोचती

हूँ कि यह भी नहीं रहेगा। इसके साथ ही शादी ने मुझे जीवन के यथार्थ के निकट ला दिया है, जिसे मैं इसके बिना कभी नहीं प्राप्त कर सकती थी।

आज यद्यपि किसी स्वाभाविक गृहस्थ की भारी जिम्मेदारी से मैं अवनत नहीं हूँ। फिर भी उसकी गंभीरता को खूब समझती हूँ। शादी से पहले प्रत्येक के दुःख से पीड़ित होती थी और सहानुभूति से आर्द्र हो जाती थी, किन्तु आज छोटी-छोटी गृहस्थ-कहानियाँ मुझे उलझन में नहीं डाल रहीं। पहले कल्पना कोमल और चंचल थी, आज वह प्रौढ़ और संयत है। उसकी गति मन्थर और धीमी है।"

अन्त में मैंने उनसे सर्वश्रेष्ठ गद्य-काव्य-लेखक तथा गद्य-काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी और गद्य-काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में उनका मत जानना चाहा तो उन्होंने कहा—"सर्वश्रेष्ठ गद्य-काव्य-लेखक का नामोल्लेख करना मेरे लिए कठिन है, पर मैं गद्य-काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में कुछ कह सकती हूँ। मुझे यह लगता है कि अपने सुख-दुःख, हास-अश्रु, आसक्ति-विरक्ति और मिलन-बिछोह को सुन्दर और सरल भाषा में ऐसा व्यक्त करे जो तीसरे व्यक्ति को वह सारा अपना ही मालूम दे तब समझना चाहिए कि वह सफल गद्य-काव्य है और यही उसकी कसौटी भी है। गद्य-काव्य के लिए शब्दों का सुचारु चयन बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना वह बिलकुल रस-शून्य और सूखा प्रतीत होगा। रंगीन भाषा के अभाव में गद्य-काव्य की रचना असम्भव है।"

इण्टरव्यू के सिलसिले में दिनेशनंदिनी जी से मैं पाँच-छः बार मिला और उनके जीवन और साहित्यिक कृतित्व का कोई ऐसा पहलू मैंने नहीं छोड़ा जिस पर बातचीत न की हो। उनका इण्टरव्यू लेकर मैंने यह अनुभव किया कि वे जो कुछ लिखती

हैं जीवन की गहराई में डूबकर लिखती हैं और उनकी अभि-व्यक्ति की तड़प झूठी नहीं है। वे अपनी व्यक्तिगत पीड़ा का प्रकाश, जिसे वे मिठास कहती हैं, गद्य-गीतों में निरन्तर ढालती चली आई हैं। पीड़ा उनकी पथ-प्रदर्शिका है और साधना उनका बल, तो जीवन के प्रति विरक्तिमय दृष्टिकोण उनके व्यक्तित्व का सबसे बड़ा आकर्षण है। मानव के प्रति उनकी आस्था ने उन्हें वह करने को विवश किया है, जो अशक्त हृदय की नारी कभी नहीं कर सकती थी, उनकी रचनाओं में अध्यात्मवादियों की भाँति इसीलिए शारीरिकता की उपेक्षा नहीं मिलती। ईश्वर में अनन्य आस्था होते हुए भी पूजा-पाठ में उनकी रुचि नहीं है और न धर्म की, पाप-पुण्य की परिभाषा ही उनको ग्राह्य है। उनका लक्ष्य केवल मनुष्य है।

धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उनका मत यह है कि वे सामान्य आदमी को उलझन में डालने वाले हैं, इसलिए सामान्य व्यक्ति को पाप-पुण्य और पूजा-पाठ के पचड़ों से दूर रहकर कोई कर्ममय प्रसंग मन लगाने के लिए चुन लेना चाहिए। अपने प्रति ईमानदारी को वे महत्त्व देती हैं और उनका कहना है कि जो अपने प्रति ईमानदार नहीं है वह दूसरे के प्रति ईमान-दार नहीं रह सकता। हिन्दी में उन्होंने सबसे अधिक गद्य-काव्य लिखे हैं और उनका विश्वास है कि इस धारा को साहित्यिकों ने महत्त्व दिया होता तो इसका विकास-पथ अवरुद्ध न हुआ होता। आज जब कि गद्य-काव्य का युग प्रकाश में आने के पूर्व ही समाप्त-प्राय है, वे आत्मनिष्ठ साधक की भाँति गद्य-काव्य लिखती चली जा रही हैं। वे आश्वस्त हैं कि आज नहीं तो कल, कल तो नहीं परसों उनकी महत्ता अवश्य स्वीकार की जायगी।

नवम्बर १९५२]

७

डॉक्टर नगेन्द्र

मैंने नगेन्द्र जी को सन् १६३३–३४ में उस समय देखा था, जब कि वे सेंट जॉन्स कालिज, आगरा में पढ़ते थे और उसके लायड होस्टल में रहते थे। तब उनके लम्बे-लम्बे बाल थे और वे आँखों पर सुनहरी फ्रेम का चश्मा लगाते थे। नजाकत की मात्रा उनमें इतनी अधिक थी कि वे लड़के-लड़कियों में समान रूप से चर्चा का विषय थे। होस्टल में भी उनका जीवन बहुत-कुछ काव्यमय था। कविता की पुस्तकों से उन्हें विशेष प्रेम था। कालिज में जब कभी कवि-सम्मेलन होता तब बड़े आग्रह से वे कविता पढ़ने जाते थे। छायावादी रचनाओं से उन्हें विशेष मोह था। उनकी अपनी कविताएँ भी छायावादी होती थीं। 'वनबाला' में प्रकाशित उनकी वह कविता, जिसमें पत्र रूप में रुग्णा कमला नेहरू के प्रति जवाहरलाल नेहरू के हृदय की वेदना व्यक्त हुई है, तब 'सैनिक' के एक विशेषांक में छपी थी। उसे मैंने तब एक श्रेष्ठ राष्ट्रीय कविता माना था। आज भी मेरा विचार बदला नहीं है। मेरा विश्वास है कि नगेन्द्र जी यदि कविता लिखते रहते तो उनकी गणना अच्छे कवियों में अवश्य होती। परन्तु अब तो वे आलोचक हो गए हैं। अब न वह वेश-भूषा रही, न वह नजाकत ही।

तो भी उनकी आत्मा को अब भी काव्य में ही अपना प्राप्य मिलता है। इसका प्रमाण उनकी आलोचना है, जो मूलतः काव्य पर ही केन्द्रित रहती है।

उन्होंने बहुत छोटी उम्र में हिन्दी के प्रमुख आलोचकों में स्थान बनाया है और बहुत सी ऐसी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, जो बड़े-बूढ़ों के लिए विचारणीय हैं। उनके उत्थान को मैंने अपनी आँखों से देखा है। मेरे प्रति उनकी सद्भावना रही है और मैं उनसे बराबर मिलता भी रहा हूँ, पर उनके जीवन के विषय में जानकारी प्राप्त करने का अवसर मुझे नहीं मिल पाया। अब की बार जब दिल्ली गया तो मैंने उनसे उनका इण्टरव्यू लेने की इच्छा प्रकट की। एक दिन निश्चित भी हो गया, परन्तु मैं और मेरे पथ-प्रदर्शक बन्धु श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' उनके घर के आस-पास चक्कर लगाकर चले आए, पर घर नहीं मिला। उसके एक दिन बाद नई सड़क पर उनसे अचानक भेंट हो गई। मैंने अपनी परेशानी उनसे कही। उन्होंने फिर एक दिन निश्चित किया और मैं उनके निवास-स्थान करौल बाग जा पहुँचा।

जिस समय मैं प्रातःकाल ७ बजे उनके घर पहुँचा, वे अध्ययन कर रहे थे। मुझे देखकर बोले, "आइये। उठते ही अध्ययन करता हूँ। यह समय भी उपयुक्त होता है और लोग भी बाधा नहीं डाल पाते।" इतना कहकर उन्होंने हाथ की पुस्तक छोड़ दी और तख्त से उठकर कुर्सी पर आ बैठे। मैं भी बैठ गया। दस मिनट तक घरेलू बातचीत होती रही। उसके बाद मौखिक रूप से विचार व्यक्त करने की अपनी कठिनाई उन्होंने मुझे बताई। लेकिन जब मैंने उन्हें यह आश्वासन दिया कि आप चाहे जैसे बोलें मैं अपने काम की बात निकाल लूँगा, तब वे बोलकर ही मेरे प्रश्नों का उत्तर देने को राजी हो गए।

सबसे पहले मैंने उनसे पूछा, "आपका बाल्य-काल किन परि-

स्थितियों में बीता और आपके साहित्यकार के निर्माण में उन्होंने कहाँ तक सहायता की ?"

नगेन्द्र जी ने लगभग चार-पाँच मिनट सोचने के बाद कहा—"मेरा बाल्य-काल सामन्तीय या अर्द्ध-सामन्तीय वातावरण में बीता। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा पितामह और मातामही द्वारा हुई। उनके कोई सन्तान नहीं थी। मेरे पिता उनके दत्तक पुत्र थे। जीवन में पहली बार इन्होंने अपने परिवार में बालक का जन्म देखा था, इसलिए मेरे प्रति उनकी अगाध ममता थी। मुझे याद है कि जब मैं बड़ा हुआ और मुझमें सोचने तथा कल्पना करने की शक्ति आ गई तो रात में नींद टूट जाने पर मैं सोचा करता था कि इन दोनों में से अगर कोई न रहा तो मैं किस प्रकार रहूँगा। पितामह का देहावसान आज से ३८ वर्ष पूर्व हुआ था और मातामही का २१ वर्ष पूर्व। तब मैं क्रमशः ६ और १८ वर्ष का था। तब से जीवन के प्रवाह में अनेक प्रकार के आवेगों और मनोवेगों का ज्वार आया, पुरानी स्मृतियों पर नई स्मृतियाँ आरूढ़ होती चली गईं, राग-द्वेष और उनके पात्र बदले परन्तु वे अगाध ममतामयी मूर्तियाँ आज भी मेरी चेतना के गहरे स्तरों में पूर्ववत् विद्यमान हैं। आज भी इस प्रसंग में अनायास उनका स्मरण करके मेरा कंठ स्तम्भित हो गया है।" और वास्तव में मैंने देखा कि नगेन्द्र जी कुछ क्षणों के लिए मौन हो गए।

अपने को सँभालकर उन्होंने फिर बोलना आरम्भ किया, "मेरे इन अभिभावकों का व्यक्तित्व सर्वथा प्रवृत्तिमय ही था। उसमें आदर्शवाद प्रायः नहीं था। इस जीवन के संस्कार मेरे व्यक्तित्व में अब भी किसी-न-किसी रूप में वर्तमान हैं। आज भी नैतिक आदर्शवाद में मेरी विशेष आस्था नहीं है। मुझे प्रवृत्ति का मार्ग ही विशेष विश्वसनीय प्रतीत होता है। नैतिक मूल्यों की अपेक्षा मानव-मूल्य ही—जो मूलतः प्रवृत्ति-जात

हैं —अधिक श्रेयस्कर लगते हैं। उस जीवन-पद्धति के दोष भी मेरे संस्कारों में विद्यमान हैं। अहमन्यता, दुराग्रह, उग्रता आदि उसके सहचारी दोष मुझमें आरम्भ में थे। यद्यपि समय की टक्करों और नौकरी की रगड़ में ये कोने अब बहुत-कुछ घिस चुके हैं, फिर भी कभी-कभी मुझे और मेरे निकट व्यक्तियों को इनका अनुभव हो ही जाता है। इस समय मेरे व्यक्तित्व पर शिक्षा का विशेष प्रभाव पड़ सकता था परन्तु मैंने आरम्भ में शिक्षा और शिक्षक का अपने ऊपर आरोप नहीं होने दिया। उनका स्वयं अपनी इच्छानुसार चुनाव किया। आरम्भ में एकाध स्कूल और उसके अध्यापकों से अवरोध मिला, परन्तु मैंने उसको स्वीकार नहीं किया और वत्सल पितामह ने अधिकतर दोष स्कूल और उसके अध्यापकों के ही मत्थे मढ़कर मुझे अपनी रुचि का स्कूल और अध्यापक चुनने की सुविधा दी। प्रारम्भिक शिक्षा पहले तो मुझे बड़ी अरुचिकर लगी और मैं स्कूल से भाग आया करता था परन्तु बाद में दो-एक अध्यापक ऐसे मिले, जिनके कारण मेरी रुचि पढ़ने की ओर हुई। उनका नामोल्लेख न करना अकृतज्ञता होगी। ये थे पं० राधावल्लभ और मुन्शी किशनलाल। पं० राधावल्लभ अत्यन्त स्नेही और मौजी व्यक्ति थे। वे अपने छात्रों से बड़ा ही स्नेह करते थे और हमेशा उनके साथ हँसी-मजाक करते रहते थे। जीवन का नया प्रकाश भी उनसे बहुत दूर नहीं था। मुझे याद है कि वे उस समय स्वतन्त्रता और देश-भक्ति आदि की चर्चा किया करते थे। दूसरे सज्जन मुन्शी किशनलाल अत्यन्त सौम्य, चरित्रवान् और गम्भीर व्यक्ति थे। इन अर्द्ध-शिक्षित अध्यापक के व्यक्तित्व में जो संस्कृति और शालीनता थी, जीवन में जो विशेष स्वच्छता थी, वह नैतिक कठोरता से सर्वथा भिन्न थी। उसका मेरे संस्कारों पर विशेष प्रभाव पड़ा। ये दोनों व्यक्ति अब भी जीवित

हैं, परन्तु मैंने प्रसङ्ग के अनुरूप भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया है।"

अपनी बाल्यावस्था की परिस्थितियों का विवरण देते हुए नगेन्द्र जी ने पितामह और मातामही का उल्लेख किया और प्रारम्भ के दो अध्यापकों का भी, परन्तु माता-पिता का नाम तक नहीं लिया। मुझे इसमें आश्चर्य हुआ और मैंने उनसे प्रश्न किया, "क्या आपके ऊपर आपके माता-पिता का प्रभाव नहीं पड़ा ?"

नगेन्द्र जी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बोले, "आरम्भ में मेरे माता-पिता का कोई विशेष प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ा। पिता उस सुधार-युग के जागरूक युवक थे। उनके सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों का पितामह की जीवन-दृष्टि के साथ सामंजस्य नहीं बैठ सका। दोनों में अहम्मन्यता थी इसलिए दोनों के बीच मेरे होश सँभालते-सँभालते काफी दूरी आ गई थी। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर भी पिता ने अध्यापन-कार्य स्वीकार कर लिया था। उनकी चित्र-कला में अभिरुचि और गति थी। हो सकता है कि आत्म-निर्भरता की प्रेरणा भी रही हो। इसलिए वे प्रायः बाहर ही रहते थे। घर बहुत कम आते थे। आते भी थे तो परिवार के प्रति उदासीन। बाद में तो सारा भार उन पर पड़ा—सब-कुछ उन्होंने ही किया, फिर भी उनकी यह उदासीनता किसी-न-किसी रूप में अब तक बनी रही। उनके प्रति मेरे मन में भय की भावना थी। मेरे ऊपर पितामह की छाया गहरी थी, और संस्कार भी मेरे भिन्न थे। इस कारण मैं पिता की विचार-धारा और आदर्शों को समझने में असमर्थ था और मेरे मन में तब उनके प्रति आदर भाव भी नहीं था। लेकिन जब मैं उनके सम्पर्क में आया तो मुझ पर उनके गुण प्रकट हुए। मैं उन्हें कठोर समझता था पर वह वास्तव में वह

मेरी भूल थी। उनकी कठोरता एक प्रकार की अति नैतिकता थी, जो तत्कालीन जीवन की प्रतिक्रिया में निर्मम हो गई थी। पितामह का दुलार उनके पास नहीं था, कदाचित् वे उसे अहितकर समझते थे। परन्तु उनमें अभिभावक की कर्त्तव्य-भावना थी और हमारी हठ तथा मनमानी इच्छाएँ चाहे पूरी न होती हों, उचित आवश्यकताओं की पूर्ति अब पहले से अधिक सुचारु रूप से होती थी। अस्त-व्यस्तता के स्थान पर जीवन-चर्या में अनुक्रम और व्यवस्था आने लगी थी। इन सबमें भी एक विशेष आकर्षण था। इन दिनों मेरे एक छोटा भाई था जो ८॥ वर्ष बाद हुआ था। इससे मुझे बड़ा मोह था पर कभी-कभी ऐसा भी लगता था कि मेरा ६ वर्ष का एकाधिकार विभक्त हो गया है। पिता जी भी उसकी ओर अधिक ममताशील जान पड़ते थे। वह उनकी ऐसी आयु की सन्तान था जब पितृ-भाव का समुचित उदय हो जाता है। विभाजन की बात साधारणतः मेरे मन में नहीं आती थी, पर पिता का व्यवहार सन्देह उत्पन्न कर देता था। कुछ दिनों में मेरा यह भ्रम दूर हो गया। मेरा विद्यार्थी-जीवन अच्छी तरह व्यतीत हुआ। मुझे अन्य सहपाठियों से अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। यह क्रम एम० ए० तक चलता रहा।

माता की परिस्थिति भी स्वभावतः कोई विशेष अच्छी न थी। मातामही के साथ साधारणतः उसके अच्छे सम्बन्ध नहीं थे—उस समय कुछ वातावरण ही ऐसा था। इसलिए जीवन में वह कुछ सामान्य से अधिक आश्रित थी। परन्तु इसके साथ ही उसका व्यक्तित्व भी अत्यन्त प्रखर और अभिमानी था। मुझे याद है कि परिवार की उन रूढ़ परिस्थितियों में भी उसका विद्रोह उग्र रूप में अभिव्यक्त हो उठता था। परन्तु मेरी घनिष्ठता मातामही के साथ ही थी, उन्होंने मेरे स्नेह पर एकाधिकार कर लिया था। उनसे जो दुलार मुझे मिला वह दुर्लभ

था। हमारे परिवार या सम्बन्धियों में किसी बालक को इतना वात्सल्य नहीं मिला। इसलिए मैं सामान्यतः अपनी माँ से कुछ दूर ही रहा।

एक बात इस सम्बन्ध में मैं और कह दूँ। पिता जी का वैसे चाहे मेरे ऊपर विशेष प्रभाव भले ही न हो पर उनके कारण मैं आर्य समाज के सम्पर्क में अवश्य आया। यद्यपि आर्य समाज की कठोर नैतिकता मेरी सहज रागात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध थी इसलिए शायद वह कभी गहरे में प्रवेश नहीं पा सकी, फिर भी आर्य समाज के साथ इच्छा या अनिच्छा पूर्वक मेरा दृढ़ सम्बन्ध तो रहा ही। वर्षों तक मैं नियमित रूप से आर्य समाज में जाता था। वहाँ कुछ व्यक्तियों से मेरा निकट परिचय भी हुआ। सामन्तीय संस्कारों के कारण मैं आरम्भ से ही व्यक्तिवादी रहा हूँ। समाज में भी मेरा व्यक्तियों के ही प्रति आकर्षण था।

कुछ व्यक्तियों के अतिरिक्त आर्यसमाज का मेरे लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। अतरौली के पास ही साधु-आश्रम था, जहाँ साधु-संन्यासी रहा करते थे। इनमें सबसे अधिक प्रतिष्ठा थी स्वामी सर्वदानन्द जी की। वह साधु अत्यन्त निस्पृह और उदारचेता तो था ही उसमें संन्यासी का वह अनिवार्य गुण भी था जो आर्य समाजियों में प्रायः दुर्लभ है। वह है आत्मा का मार्दव। मेरी निश्चित धारणा है कि यह धर्म की पहली शर्त है। इसके बिना धर्म एक बाह्याचार-मात्र है, और इसके अभाव में समष्टि रूप में आर्य समाज मेरी आत्मा को नहीं छू सका। आर्य समाज में मुझे दूसरी कुछ विशेषताएँ मिलीं। जागरूक जीवन-दृष्टि और जीवन-कला। इनको मैंने राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री में पाया। मेरे मन में अब भी उनके प्रति बड़ा आदर भाव विद्यमान है।

इस प्रकार, मेरा जीवन सामन्तीय और आर्यसमाजी वातावरण में पल्लवित और विकसित हुआ।"

"लेकिन आपने शिक्षा कहाँ-कहाँ पाई और हिन्दी के प्रति आपके मन में अनुराग कैसे पैदा हुआ?"

"मैंने आठवें दर्जे तक अतरौली की अंग्रेजी पाठशाला में, जो उस समय तक सरकार से स्वीकृत नहीं थी, एण्ट्रेंस तक अनूपशहर के एंग्लो वैदिक हाई स्कूल में, इण्टर तक चंदौसी-कालिज में तथा बी० ए० और अंग्रेजी एम० ए० तक सेंट जांस कालिज, आगरा में शिक्षा पाई। इन सभी स्कूल और कालिजों तथा उनके अध्यापकों का मेरे जीवन पर अत्यन्त अन्तरंग प्रभाव है। आपसे बात करते समय अब भी मेरे मन में अनेक मधुर-गम्भीर दृश्य और उनसे सम्बद्ध मधुर-गम्भीर आकृतियाँ चित्रवत् घूम जाती हैं। हिन्दी के पहले संस्कार मुझे अतरौली के अध्यापक पं० प्रसादीलाल चूड़ामणि से प्राप्त हुए। इस क्षेत्र में ये सज्जन समय से काफी आगे थे। हिन्दी में कविता करते थे और साहित्य के प्रति इनके मन में एक विशिष्ट अनुराग था, जो अतरौली-जैसी छोटी जगह के लिए एक स्तुत्य विशेषता थी। हाई स्कूल में हिन्दी और संस्कृत मेरे अच्छे विषय थे परन्तु अभी तक अध्ययन का महत्त्व परीक्षा-सापेक्ष्य ही था, और मैं अपने विषय का चयन अभी तक नहीं कर पाया था। इण्टरमीडियेट में जाकर थोड़ा आत्म-विश्वास आया और मेरे मन में यह स्पष्ट होने लगा कि मेरा विषय हिन्दी है। यों तो एक-आध तुकबन्दी मैंने हाई स्कूल पास करते-करते भी जोड़ ली थी परन्तु फर्स्ट ईयर में आकर मैं नियमित रूप से कविता करने लगा और मुझे अपने अध्यापकों तथा सहपाठियों से प्रोत्साहन मिलने लगा था। हिन्दी के प्रति एक स्थिर अनुराग यहीं से आरम्भ हुआ। बी० ए० में आकर संस्कृत और अंग्रेजी के साहित्य के साथ मैंने व्यवस्थित रूप से हिन्दी-साहित्य का

अध्ययन किया। इस समय मेरा सम्पर्क श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त और बाबू गुलाबराय से हुआ। गुप्त जी मेरे अंग्रेजी के अध्यापक थे और साहित्य-सर्जना में मुझे उनसे काफी प्रोत्साहन मिला। प्रकाशचन्द्र जी में मुझे पहली बार उस साहित्यिक संस्कारिता के दर्शन हुए जिसकी मैं अपेक्षा करता था। उनकी रुचि अत्यन्त परिष्कृत और दृष्टि स्वच्छ थी। बाबू जी एक भिन्न व्यक्ति थे। प्रकाशचन्द्र जी की व्यवस्था का यहाँ सर्वथा अभाव था। ऐसा लगता था जैसे एक कोमल वृक्ष अपनी छाया और फलों के साथ सहज ही अनगढ़ रूप में बढ़ गया हो और बढ़ता जा रहा हो। प्रकाशचन्द्र जी का अपनाव और परित्याग जहाँ अत्यन्त निर्मम और स्पष्ट था वहाँ बाबूजी के पास अपनाव-ही-अपनाव था। विधि और निषेध, स्वीकृति और परित्याग में बाबू जी का पहला ही अंग अधिक प्रबल था। उनमें सहानुभूति की वृत्ति असामान्य रूप से विकसित थी—है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में भी बाबू जी गौरव-लाभ कर चुके थे। निदान मैं अत्यन्त विनय और श्रद्धा का भाव लेकर उनकी ओर बढ़ा और उनके सहज सौजन्य से मैंने बहुत-कुछ प्राप्त किया।

एम० ए० तक मेरा साहित्यिक कृतित्व कविता तक ही सीमित था। एम० ए० तक पहुँचते-पहुँचते मेरी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं और स्थानीय साहित्यिक जीवन में मेरा थोड़ा-बहुत स्थान बन चुका था। अपने सहपाठियों और अध्यापकों में मेरा सदा मान रहा, परन्तु मैं परीक्षार्थी अच्छा नहीं था। इसलिए शक्ति और साधन होते हुए भी मेरा विद्यार्थी-जीवन उतना सफल नहीं रहा, जितना कि हो सकता था। अंग्रेजी एम० ए० की मेरी व्यवस्था बिगड़ गई। उस समय मेरा विवाह हुआ, जिससे गाड़ी कुछ समय के लिए पटरी से उतर गई। लेकिन मैंने जो-कुछ खोया उसका विशेष अनुताप नहीं रहा, क्योंकि जो

पाया वह उससे अधिक था। यह क्रम मैंने बाद में अपने अध्यवसाय से पूरा कर लिया। हिन्दी का एम० ए० करने के बाद मैं अंग्रेजी का अध्यापक हो गया और दस वर्ष तक दिल्ली के कामर्स कालिज में अंग्रेजी पढ़ाता रहा।

अध्यापक होते ही मेरा साहित्यिक जीवन पूरे वेग से आरम्भ हुआ। सन् १९३७ में पहला काव्य-संग्रह 'वनबाला' प्रकाशित हुआ। इसमें विद्यार्थी-जीवन की गीति-कविताएँ और एक गीतिमय कहानी थी। इसी के साथ साहित्य-रत्न-भंडार के कुशल संचालक श्री महेन्द्र जी से मेरा सम्पर्क हुआ। इन्हीं दिनों 'साहित्य-संदेश' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। महेन्द्र जी को मुझ-जैसे व्यक्तियों की आवश्यकता थी और मुझे उन-जैसों की। उनका स्नेह मुझे आज भी यथा-पूर्व प्राप्त है। आरम्भ के ६-७ वर्ष तक 'साहित्य-सन्देश' की प्रगति और मेरे साहित्यिक जीवन का विकास परस्पर सम्बद्ध रहे। मुझे अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक माध्यम मिल गया था और मैंने भी 'साहित्य-सन्देश' के विकास में यथा-शक्ति सहयोग दिया, यद्यपि मेरा आदान प्रदान की अपेक्षा अधिक था। इसी समय क्रम से मेरी तीन आलोचना-कृतियाँ प्रकाशित हुईं—'सुमित्रानन्दन-पन्त', 'साकेत : एक अध्ययन' और 'आधुनिक हिन्दी नाटक'। 'सुमित्रानन्दन पन्त' का हिन्दी में आशा से अधिक स्वागत हुआ। अपना विद्यार्थी-जीवन समाप्त करते-करते मैंने स्वदेश-विदेश के साहित्य का यथेष्ट अध्ययन कर लिया था और मुझमें आत्म-विश्वास का सर्वथा अभाव नहीं था। परन्तु फिर भी आलोचना के क्षेत्र में मैंने पहला चरण रखा था इसलिए थोड़ा-बहुत संकोच और आशंका तो थी ही। परन्तु 'सुमित्रानन्दन पन्त' का हिन्दी के सभी क्षेत्रों में इतना हार्दिक स्वागत हुआ कि इस भूमि पर मेरे पैर जम गए। दूसरी कृति 'साकेत : एक अध्ययन' विश्वास के साथ लिखी

गई। मैंने अत्यन्त अध्ययन-पूर्वक इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। उस समय मेरे सामने अंग्रेजी के कृती आलोचक और उनके आलोचना-ग्रंथ घूम रहे थे, और मैं कम-से-कम वैसी ही सूक्ष्म आलोचना हिन्दी में प्रस्तुत करना चाहता था। इस ग्रन्थ की रचना पर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ और अब भी मेरा उसके प्रति मोह है। 'सुमित्रानन्दन पन्त' जल्दी में लिखी गई थी। उस समय आत्म-विश्वास भी कम था और हाथ भी मँजा हुआ नहीं था। नये ग्रन्थ का भी उचित आदर हुआ। अब मैं धीरे-धीरे व्यवसायी आलोचक बन गया। कविता छूट गई। कभी-कभी आत्माभिव्यक्ति के लिए दो-एक गीत लिख लेता था। 'साहित्य-सन्देश' और दूसरे पत्रों में अब मैं नियमित रूप से आलोचनात्मक लेख लिख रहा था। इसी बीच 'आधुनिक हिन्दी नाटक' की रचना हुई। यह ग्रन्थ जैसा कि मेरे गुरु प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा था मेरे लिए एक दिशान्तर-प्रयाण था। परन्तु इसमें मैं शास्त्र से आगे बढ़कर मनोविज्ञान के क्षेत्र में आ गया। इसमें मैंने हिन्दी के नाटककारों और नाटकों की व्यक्तिपरक मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की। इस समय मैंने मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र और उसके प्रवर्तक फ्रायड तथा सौन्दर्य-शास्त्र के आचार्य क्रोचे का विधिवत् अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप मेरी प्रवृत्ति व्यावहारिक आलोचना से सैद्धान्तिक आलोचना की की ओर होने लगी। अब तक मुझे आगरा-विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० से मुक्ति और डी० लिट्० के लिए निबन्ध प्रस्तुत करने की आज्ञा मिल गई थी। विषय था—'रीति काव्य की भूमिका में देव का अध्ययन।' विषय में प्रवेश करते-करते मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि देव अपने-आपमें कोई ऐसा विषय नहीं है जिस पर इस अवस्था में आकर मैं अपने दो-तीन वर्ष लगा दूँ। इसलिए मैंने रीति-काव्य को ही अधिक मनोनिवेश और आग्रह के

साथ पकड़ लिया। इस प्रकार अपनी मनोयात्रा में मैं विदेश से स्वदेश लौट आया और इस नई दृष्टि और नये प्रकाश को लेकर भारतीय वाङ्मय के रत्नागार में प्रविष्ट हुआ।"

नगेन्द्र जी अपने साहित्यिक जीवन के विकास की पूरी रूप-रेखा प्रस्तुत कर चुके थे। लेकिन उनके आलोचक के निर्माण में किन तत्त्वों का हाथ था और कैसे वे उन तत्त्वों को आत्मसात् करने में समर्थ हुए, यह जानने की मेरी बड़ी अभिलाषा थी। इस बात को दृष्टि में रखकर मैंने उनसे पूछा, "किस आलोचक ने आपको सबसे अधिक प्रभावित किया है और उसके प्रभाव से आपको आलोचना के क्षेत्र में क्या लाभ हुआ है?"

"आरम्भ में ही" नगेन्द्र जी ने कहा, "आचार्य शुक्लजी के प्रभाववश मेरे मन में भारतीय रस-सिद्धान्त के प्रति गहरी आस्था हो गई थी। शुक्लजी का मेरे मन पर विचित्र आतंक और प्रभाव रहा है। उनका प्रभाव मेरे लिए अनिवार्य हो गया। मेरे अपने संस्कार शुक्ल जी के संस्कारों से सर्वथा भिन्न थे। मेरा साहित्यिक संस्कार छायावाद-युग में हुआ था, शुक्ल जी सुधार-युग की विभूति थे। उनकी दृष्टि सर्वथा नैतिक और आदर्शवादी थी, मुझे नैतिकता के उस रूप के प्रति कभी श्रद्धा नहीं रही। साथ ही शुक्लजी उस समय जिस प्रकार छायावाद और छायावादी कवियों पर कस-कसकर प्रहार कर रहे थे, उससे मेरे मन को बड़ा क्लेश और विक्षोभ होता था। उनके निष्कर्षों को मानने के लिए मैं बिलकुल तैयार नहीं था, परन्तु उनके प्रौढ़ तर्क और अनिवार्य शैली मेरे ऊपर बुरी तरह हावी हो जाते थे और मैं यह मानने को विवश हो जाता था कि इस व्यक्ति की काव्य-दृष्टि चाहे संकुचित हो, लेकिन फिर भी अपनी सीमा में यह महारथी अजेय है। इस प्रकार शुक्लजी के साथ मेरा मानसिक सम्बन्ध बड़ा ही विचित्र रहा। वह एकलव्य और द्रोणाचार्य के सम्बन्ध से भिन्न था, क्योंकि

एकलव्य तो केवल सामाजिक बाधा के कारण ही द्रोणाचार्य से प्रत्यक्ष दीक्षा नहीं ले सका था, उसकी निष्ठा तो सर्वथा अविभक्त थी। मुझे भी शुक्ल जी का विद्यार्थी होने का कभी सौभाग्य नहीं मिला। दर्शन उनके मैंने तीन बार अवश्य किये थे। मेरा मन भी हिन्दी के आलोचकों में उन्हीं के सामने झुकता था और आज भी उसी प्रकार झुकता है, परन्तु मेरी निष्ठा अविभक्त नहीं थी और न है। उनके अनेक मूल सिद्धान्तों को सर्वथा अस्वीकार करते हुए मैंने उन्हें सदा विश्व-साहित्य के अग्रणी आलोचकों में स्थान दिया है। 'आई सिम्पली कुड नॉट एस्केप हिम'– मैं उनके प्रभाव से बच ही नहीं सका हूँ।

शुक्लजी के प्रभाव के कारण ही मैं भारतीय काव्य-शास्त्र और रस-सिद्धान्त की ओर मुड़ा। अपने गवेषणा-निबन्ध की रचना के समय मैंने उनका अध्ययन भी खूब किया। मेरे सामने नई दिशाएँ और नए द्वार खुल गए। वामन, भट्टनायक, अभिनव, कुन्तक आदि की अतल-स्पर्शी मेधाओं से साक्षात्कार हुआ। इन पौरस्त्य आचार्यों में भट्टनायक और अभिनव गुप्त ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया है। भट्टनायक का ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है परन्तु उनके प्राप्य उद्धरणों के आधार पर ऐसा लगता है कि संस्कृत के पंडितों ने उनके साथ न्याय नहीं किया। उनका साधारणीकरण का सिद्धान्त तो भारतीय रस-सिद्धान्त की आधार-भूमि है ही, उनका योजकत्व का सिद्धान्त भी कुछ अधिक न्याय की अपेक्षा रखता है। पाश्चात्य आलोचकों में मेरे ऊपर क्रोचे और आई० ए० रिचर्ड्स का प्रभाव है। इस सम्बन्ध में मुझे यह और कहना है कि दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से मुझे लगा कि सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में भारतीय काव्य-शास्त्र विदेश के काव्य-शास्त्र से आगे बढ़ा हुआ है। साधारणीकरण आदि के जिन सिद्धांतों का अन्वेषण विदेशी आचार्य मनोविज्ञान आदि की सहायता से

अब कर रहे हैं उनसे हमारे आचार्य आज से दस-बारह शताब्दी पूर्व सम्यक्‌रूपेण परिचित थे। थीसिस के लिए यह विषय मेरी भूमिका का ही एक अंग-मात्र था अतएव मैं इसके साथ पूरा न्याय न कर सका फिर भी मैंने इसकी रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। हमारे इन आचार्यों ने एक दिशा बिलकुल छोड़ दी है यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। उन्होंने जहाँ सहृदय के मन के अतल गह्वरों में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है वहाँ कवि के मन का विश्लेषण, तथा सृजन-प्रक्रिया में कवि और कृति के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन बिलकुल नहीं किया। विदेश के काव्य-शास्त्र में प्राधान्य इसी को दिया गया है। मेरे मन में यह बात बैठ गई कि भारतीय और यूरोपीय काव्य-शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय दृष्टि मुझे अधिक स्थिर लगी, परन्तु विवेचन और विश्लेषण के साधन विदेश में अधिक मिले। अतएव मैंने अपने सीमित क्षेत्र में इन दोनों के समन्वय का विनम्र प्रयत्न किया। विदेश के काव्य-शास्त्र, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र के अध्ययन और ग्रहण ने मेरी रस-दृष्टि को और भी स्थिर कर दिया। मैं काव्य में रस-सिद्धांत को ही अन्तिम सिद्धांत मानता हूँ। उसके बाहर न काव्य की गति है, न सार्थकता। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र को मैंने व्याख्या के साधन के रूप में ग्रहण किया है वे साध्य नहीं हैं।"

"लेकिन लोग तो आपको फ्रायडवादी कहते हैं!"

"यह गलत है। ऐसा कहने वाले मेरी कुछ उक्तियों को पूरे प्रसंग से अलग करके अपना फतवा दे देते हैं। मैंने फ्रायड के दर्शन को समग्र रूप में कभी ग्रहण नहीं किया। मैं उसे एकांगी और उसकी आधारभूत अनेक युक्तियों को दुरारूढ़ और अविश्वसनीय मानता हूँ। काम जीवन का मुख्य अंग है परन्तु सर्वांग नहीं। ऐसी दशा में मैं फ्रायड के सिद्धांत को जीवन-दर्शन के रूप

में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ, फिर भी मैं फ्रायड को एक बहुत बड़ी मेधा मानता हूँ—उनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। रस-सिद्धांत में भी फ्रायड का दर्शन साधक है बाधक नहीं, क्योंकि दोनों ही आनन्द के सिद्धांत 'लैजर प्रिंसपिल' को लेकर चलते हैं, दोनों का ही रूप प्रवृत्तिमय है। फिर भी फ्रायड का दर्शन एकांगी है। वे कदाचित् उन आचार्यों की दिशा में सोचते हैं जो रस-वाद को शृङ्गारवाद में ही सीमित करके देखते थे। मैं काव्य में व्यापक रसवाद और उसी के अनुकूल जीवन में व्यापक आनन्द-वाद का समर्थक हूँ।"

"साहित्य-शास्त्र के इन आचार्यों के अतिरिक्त आप पर और किन-किन साहित्यकारों का प्रभाव है।" मैंने इसी प्रसंग में पूछा।

उन्होंने कहा—"साधारणतः इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर देना कठिन ही है, क्योंकि अध्ययन और साक्षात् परिचय आदि के द्वारा मैं परोक्ष या अपरोक्ष रूप से अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आया हूँ। इनमें से किसका कितना प्रभाव पड़ा, यह कहना उतना ही कठिन है जितना खाये हुए भोजन के भिन्न-भिन्न तत्त्वों को पृथक् करना। फिर भी मैं कुछ ऐसे कवि-कलाकारों की ओर संकेत कर सकता हूँ, जिनका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जहाँ तक अध्ययन का सम्बन्ध है, मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि मेरा मुख्य विषय काव्य और काव्यालोचन ही रहा है। उपन्यासों को पहले मैं काव्य का एक हल्का और मनोरंजक रूप मानकर उनकी उपेक्षा करता रहा। बाद में यह भावना तो नहीं रही और वास्तव में यह धारणा सर्वथा भ्रांत भी थी, क्योंकि उपन्यास आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे प्रमुख साधन है। लेकिन फिर भी अब मुझे उनके आकार से भय लगता है। कहानी में भी विशेष मन नहीं रमता। आरम्भ से ही मन को काव्य-सेवन से सारभूत रस-पान करने का कुछ ऐसा अभ्यास हो गया है कि साहित्य के वे रूप, जिनमें आकार की

विपुलता के कारण मिश्र पदार्थ भी काफी मिलता हो, मुझे विशेष रुचिकर नहीं रहे। आज भी मैं आपको अपनी एक कमजोरी बता दूँ—मोटे उपन्यास की अपेक्षा मुझे मनोविज्ञान अथवा काव्य-दर्शन का विशालकाय ग्रन्थ अधिक सहज-ग्राह्य है।

इस प्रकार मेरा परिचय स्वदेश-विदेश के दिवंगत और जीवित कवियों और काव्य-शास्त्रियों से ही अधिक रहा है। पढ़ने को यों स्वदेश-विदेश का बहुत काव्य पढ़ा, अंग्रेजी और हिन्दी के प्रायः सम्पूर्ण काव्य-साहित्य का पारायण मैंने किया है। हिन्दी के पुराने कवियों में मैंने विशिष्ट अध्ययन तुलसी का किया था, पर उनमें मेरा मन नहीं रमता। वे कुछ आवश्यकता से अधिक नीतिवादी हैं। जीवन की उन्मुक्तता और उस पर आश्रित असीमित सहानुभूति की उनमें कमी है। वे राम की भक्ति को छोड़कर दूसरे विषय में तन्मय नहीं होते इसलिए उनके साथ मेरे मन का तादात्म्य कम ही होता है। यों उनके प्रति श्रद्धा का भाव किसको न होगा? सूर मुझे उनसे अच्छे लगते हैं। विद्यापति को समझने में भाषा की थोड़ी बाधा है पर रूप और यौवन के प्रति उनका उल्लास अत्यन्त आकर्षक है। रीति-काव्य का मैंने विशेष अध्ययन किया है। मैं व्यापक दृष्टि से उसे बहुत गम्भीर और महान् काव्य नहीं मानता, फिर भी देव, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, और इधर द्विजदेव तथा प्रतापसाहि अत्यन्त सरस कवि थे। आधुनिक कवियों में प्रसाद को छोड़कर प्रायः सभी का मुझे व्यक्तिगत सम्पर्क लाभ हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का स्तर अत्यन्त असम है। 'विकट भट' और 'गुरुकुल' से लेकर 'साकेत' 'यशोधरा' और 'जय भारत' के नवीन सर्गों तक की रचना उन्होंने की है। 'साकेत' और 'यशोधरा' मुझे बहुत अच्छे लगते हैं और उनकी नवीन कृतियों में 'दिवोदास' और 'जय भारत' के अनेक सर्ग बहुत ही मार्मिक हैं। मैं उन्हें दोषों के बावजूद भी

महाकवि मानता हूँ। 'साकेत' के अनेक स्थलों को पढ़कर मुझे आज भी रोमांच हो आता है और मेरी चेतना द्रवीभूत हो जाती है। दूसरे कवियों में प्रसादजी की मेधा से मैं अत्यन्त प्रभावित हूँ उनमें बौद्धिक वैभव और हार्दिक विभूतियों का अपूर्व मिश्रण है। विराट और कोमल पर उनका समान अधिकार है। निराला की प्रतिभा का भी मैं बड़ा कायल हूँ। प्रसाद के अतिरिक्त विराट् को अपनी चेतना में बाँधने वाले वे ही एक-मात्र कवि हैं। परन्तु वर्ड्सवर्थ की तरह उनका अध्ययन भी चयनिकाओं द्वारा होना चाहिए। छायावाद के अन्य कवियों में शायद पन्तजी से मेरा सबसे अधिक घनिष्ठ सम्पर्क है और महादेवी वर्मा की भी मेरे ऊपर कृपा रही है। ये दोनों कवि अपने-अपने क्षेत्रों में अद्वितीय हैं। पन्त में आत्मा और उसके फलस्वरूप अभिव्यक्ति का अपूर्व संस्कार मिलता है। उनकी-जैसी परिष्कृत चेतना दुर्लभ ही है। किन्तु मुझे लगता है कि जैसे परिष्कार ही जीवन और काव्य के लिए सब-कुछ नहीं है। प्राणवत्ता का कदाचित् अधिक मूल्य है। महादेवी जी के विषय में भी मेरी यही धारणा है। उनके गीत एक अत्यन्त संस्कृत आत्मा और परिष्कृत वाणी के स्फुरण हैं। परन्तु ऐसा लगता है जैसे चिन्तन की आग में उनके जीवन का बहुत-कुछ रस जल गया है। इधर सियारामशरण के तपःपूत व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा है। परन्तु कदाचित् मेरा राग-लिप्त मन उनके काव्य के अत्यन्त शुद्ध और छने हुए सात्विक रस का स्वाद लेने में असमर्थ है। अपनी पीढ़ी के कवियों में मैं दिनकर को सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। प्रसाद की विराटता और कोमलता की विरासत हमारे समवयस्क कवियों में उनको ही प्राप्त है। नए गीति-कवियों में मुझे गिरिजाकुमार माथुर के अनेक गीत बहुत प्रिय हैं।

विदेशी कवियों में मेरा अनुराग विशेष रूप से रोमांटिक

कवियों के प्रति रहा है। पहले मुझे शैली बहुत अच्छे लगते थे और अब भी लगते हैं पर बाद में कीट्स के काव्य का मांसल रस अधिक रुचिकर हुआ। विदेश की आधुनिक बौद्धिक कविता और इधर हिन्दी में भी इसकी प्रतिध्वनि प्रयोगवादी कविता का आस्वादन-प्रयत्न करने पर भी मेरे लिए सम्भव नहीं हो सका। आज से कुछ वर्ष पहले हिन्दी में प्रगतिवाद का काफी हल्ला था। कुछ पहलवानों ने खूब पैंतरे दिखाये और कुछ दिन हिन्दी का लेखक और पाठक बेचारा उनके आतंक में आ गया, परन्तु वह आवाज जल्दी ही बैठ गई; क्योंकि उसके पीछे आत्मा का बल नहीं था, गले का ही जोर था। कुल मिलाकर कदाचित् उसका प्रभाव अहितकर ही हुआ, क्योंकि उसने साहित्यकार को दिशा-भ्रष्ट करके सृजन को कुण्ठित कर दिया। फिर भी इस धारा ने हिन्दी को एक प्रकार की सामाजिक जागरूकता प्रदान की और शिवदानसिंह चौहान-जैसे समझदार व्याख्याता इसके लिए थोड़ा बहुत जन-मत बनाने में भी समर्थ हो सके।"

"अच्छा यह तो रुचि की बात रही। अब आप मुझे यह बताइए कि समग्र रूप में आप किन कवियों अथवा काव्यों को आदर्श मानते हैं?" मैंने कहा।

वे बोले, "हाँ, मैं मूल रूप से मैं अपनी रुचि की ही अधिक बात कर रहा था। जहाँ तक आदर्श काव्यों का सम्बन्ध है, वास्तव में ऐसे काव्य कम ही होते हैं और पूरे साहित्य या युग में एकाध काव्य ही इस प्रकार का होता है। मैं जीवन में उस व्यक्ति को महान् मानता हूँ, जिसमें जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने की अद्भुत सामर्थ्य हो, जिसकी पैनी दृष्टि अनेकता को बेधती हुई एकता को प्राप्त कर ले। इसी प्रकार मैं कवियों में आदर्श कवि उनको मानता हूँ, जिनमें जीवन का समग्र-ग्रहण हो, जिनकी पहुँच मानव-मन की उच्चतम ऊँचाइयों और

गहनतम गहराइयों तक हो, जो खंड को न देखकर अखंड को देखते हों। वे ही कवि क्रान्तदर्शी हैं। विदेश के होमर, वर्जिल, दांते, शेक्सपीयर और गेटे, तथा इधर वाल्मीकि और व्यास ऐसे ही कवि थे।"

सात बजे से हम लोगों की साहित्य-चर्चा आरम्भ हुई थी और इस समय साढ़े बारह हो गए थे। नगेन्द्र जी को रेडियो-स्टेशन जाना था, इसलिए चर्चा को यहीं समाप्त कर दिया गया साथ ही यह भी निश्चय हो गया कि शेष बातचीत आज ही चार बजे फिर हो।

चार बजे हम फिर साहित्य-चर्चा में प्रवृत्त हुए। प्रातः काल पाँच घण्टे तक नगेन्द्र जी लगातार एक विशेष स्तर पर साहित्य की गम्भीर विवेचना करते रहे थे। जिस प्रकार एक-एक शब्द को कभी-कभी काफी देर तक सोचकर वे बोलते हैं उससे उन्हें कम परिश्रम नहीं पड़ा होगा। यह सब सोचकर मैंने उनसे कहा—"अब थोड़े हल्के 'मूड' में बात हो जाय। मैं आपको एक बार फिर व्यक्तिगत धरातल पर उतार लाना चाहता हूँ। आप यह बताइये कि आप स्वयं किस वातावरण में और किस प्रकार से लिखते हैं। किस प्रकार आप सामग्री का संकलन करते हैं और किस प्रकार उसे निबद्ध करते हैं?"

इस प्रश्न पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए नगेन्द्र जी बोले, "जैसा कि मैं पहले आपसे कह चुका हूँ, मैंने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ काव्य-रचना से किया है। मेरा तरीका यह रहता था कि मैं कविता को पहले अपने मन में रच लेता था और फिर उसे लेखनीबद्ध करता था। आलोचना के लिए यह शैली सहज सुलभ नहीं है, परन्तु मेरी विधि यही है। अब भी मैं सारा लेख नहीं तो कम-से-कम उसका एक पूरा अङ्ग मन में रच लेता हूँ। इस प्रक्रिया में ही मुझे ज्यादा देर लगती है। लेखनी-

बद्ध करते समय फिर मेरी मनोदशा ऐसी हो जाती है कि मैं कहीं भी कैसी ही परिस्थिति में लिख सकता हूँ। ध्यानावस्थिति की अवस्था मेरे लिए लेख को शब्दबद्ध करते समय नहीं रहती। उससे पहले ही, लेख को मन में रचते समय ही मैं एकाग्रता चाहता हूँ। फिर भी एक साथ जमकर एक बैठक में नहीं लिख सकता। मैंने कभी कोई छोटे-से-छोटा लेख भी एक जगह बैठकर नहीं लिखा। कापी के दो-ढाई पृष्ठ लिखकर मुझे ऐसा लगता है कि दिन का कर्तव्य-कर्म समाप्त हो गया। बाकी अगले दिन ही लिखा जा सकता है। मैंने पूरा थीसिस इसी तरह लिखा। किसी दिन भी दो-ढाई पेज से अधिक नहीं लिखा। लिख ही नहीं सकता। वातावरण और समय मेरे लिए अप्रासंगिक हैं। मैं किसी वातावरण में भी लिख सकता हूँ। हाँ, मन पर जब कोई भार हो तो नहीं लिख सकता। मेरा लेखन-साथी साधारणतः कोई नहीं होता, न जड़ न चेतन। जड़ से मेरा मतलब सिगरेट, चाय या दूसरी गहरी चीज से है और चेतन से मतलब किसी स्फूर्ति-दायिनी संगति अथवा श्रुतलेखक या टाइपिस्ट आदि से। मैं बोल-कर नहीं लिखा सकता। दफ्तर में भी मैं अपने नोट हाथ से लिखकर फिर टाइप करने देता हूँ। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में ही मेरा यह ढंग है। मेरी लेखन-क्रिया व्यवस्थित नहीं होती। मेरे पास कोई लेखन-सामग्री साफ सुथरे कागज, कलम, दवात भी नहीं रहती।"

यहीं जब मैंने दिनचर्या, हॉबी और रहन-सहन के सम्बन्ध में उनसे पूछा तो उन्होंने कहा—"मेरी दिनचर्या में अव्यवस्था ही व्यवस्था बन गई है। देर में सोने के कारण देर में ही उठ सकता हूँ। परन्तु नींद को मैं स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। इसलिए जान-बूझकर जल्दी नहीं उठता। उठकर एकदम पढ़ने का अभ्यास है। यह विद्यार्थी-जीवन से अब तक चला

आता है। इस समय मैं अच्छा काम कर लेता हूँ। कभी-कभी ऐसा होता है कि दिन-भर का काम उठने के बाद एक साथ ही कर लेता हूँ। सामान्य रूप से मेरे भोजन का समय व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता, परन्तु जैसा कि मैंने कहा मेरे लिए यही अब व्यवस्था बन गई है। भोजन के प्रति मेरा दृष्टिकोण अत्यन्त विवेक-संगत है। मैं साधारणतः अपनी शक्ति-संवर्द्धना के लिए अच्छा भोजन करता हूँ पर भोजन के प्रति मुझे कोई विशेष अनुराग नहीं है। मैं व्यक्ति की संस्कृति के तीन स्तर मानता हूँ। सबसे निम्न स्तर उस व्यक्ति का है जो भोजन पर मुग्ध रहता है। उससे ऊँचा स्तर उस व्यक्ति का है जो वस्त्र-भूषा से प्रेम करता है। मैं अपनी वस्त्र-भूषा के प्रति उदासीन नहीं। बाह्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए वस्त्र की अपेक्षा होती है, यहाँ तक तो ठीक है, परन्तु वस्त्र को इतना महत्त्व देना कि वह व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने के स्थान पर उसे आच्छादित कर ले तो उसका उद्देश्य ही विफल हो जाता है, इसलिए जो लोग लिबास में कविता ढूँढ़ते हैं उनको मैं बौद्धिक दृष्टि से थोड़ा अविकसित समझता हूँ। संस्कृति का सबसे ऊँचा स्तर रागात्मक और बौद्धिक स्तर है। मैं उसी से व्यक्ति की संस्कृति का मूल्यांकन करता हूँ। कपड़े की बात करते हैं तो मुझे सूट बुरा नहीं लगता, पर कुर्ता-धोती उससे अच्छा लगता है।

हल्के मन-बहलाव के रूप में मेरी कोई हॉबी नहीं है। मुझे ताश, शतरंज, कैरम आदि बैठे-ठाले खेल खेलने से चिढ़ है। दूसरे को खेलते देखकर भी मैं ऊब उठता हूँ। खेल का अर्थ मैं व्यायाम मानता हूँ। छात्र और अध्यापक-जीवन में मैं टैनिस का अच्छा खिलाड़ी था। टैनिस में भी मुझे तेज और जोरदार खेल खेलना अच्छा लगता था। खेल में बारीकी और बुद्धि का चमत्कार दिखाना मुझको नापसन्द था। इसी प्रकार दूसरे मनो-

रंजन भी मुझे व्यर्थ लगते हैं। मेरे मन में यही आया करता है कि 'जीभ निबौरी क्यों चहै बौरी चाखि अँगूर।' यात्रा आदि मे मैं घबराता हूँ। बड़ी ही ठेल-ठाल के बाद जबरदस्ती कहीं जाता हूँ। बाहर जाकर अपने-आपको क्षेत्र से उच्छिन्न वृक्ष के समान पाता हूँ। इसी प्रकार सामाजिक मित्र भी बहुत कम हैं। कुछ अत्यन्त घनिष्ठ व्यक्तियों के अतिरिक्त मुझे दूसरों के साथ रहना अच्छा नहीं लगता। उसमें व्यर्थ का बाह्याचार मिलता है, जीवन की अन्तरंगता नहीं।"

यद्यपि नगेन्द्र जी बहुत अच्छे पद पर हैं और खासा वेतन पा रहे हैं तथापि मैं साहित्य द्वारा अर्थ-लाभ के प्रश्न पर उनका मत जानने का लोभ-संवरण न कर सका और पूछ बैठा, "वैसे तो आपसे यह प्रश्न करना बहुत अधिक सार्थक नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति अच्छी नौकरी पर हो और जिसकी आय हजार-बारह सौ रुपया हो उसके लिए श्रमजीवी साहित्यकार के जीविका-सम्बन्धी प्रश्न कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते फिर भी आप यह बताइए कि आप साहित्य और अर्थ-लाभ का सम्बन्ध कहाँ तक मानते हैं ?"

नगेन्द्र जी ने कहा—"ऐसी बात नहीं है। आरम्भ में जब मेरे आर्थिक साधन सीमित थे तब मैं वास्तव में यह सोचता था कि साहित्य को जीविका का साधन बनाना अनुचित है। अब अपेक्षाकृत मेरी आर्थिक स्थिति अच्छी है लेकिन आज मुझे साहित्य-सर्जना और उसके द्वारा अर्थ-लाभ ये दोनों बातें असंबद्ध नहीं जान पड़तीं। वरन् मैं तो, इसके विपरीत यह सोचता हूँ कि इन दोनों का सम्बन्ध और अधिक व्यवस्थित और स्थिर होना चाहिए। आवश्यकता पड़े तो राज्य का हस्तक्षेप भी श्रेयस्कर होगा। जो व्यक्ति साहित्य के माध्यम से समाज को अपनी आत्मा का सार देता है उसकी जीवन-चर्या के लिए समाज में उचित

व्यवस्था होनी चाहिए। राष्ट्र के पुनर्निर्माण में साहित्यकार का योग राजनीतिज्ञ से कम नहीं है। हमारे राष्ट्रीय जीवन के बौद्धिक और मानसिक पुनर्निर्माण की बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह साहित्यकार द्वारा ही सम्भव है। यदि उसका सारा समय प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए जीविकोपार्जन में ही बीत जाय तो वह राष्ट्र को क्या देगा ? मैं अपनी बात करता हूँ। मुझे अपनी शक्ति और साधनों के विषय में कोई मुगालता नहीं है परन्तु जितना कुछ भी मैं कर सकता हूँ, आज नहीं कर पा रहा, क्योंकि अभी कुछ समाज का विधान ऐसा है कि हममें से अधिकांश को दो चोले रखने पड़ते हैं। साहित्यकार को इस अस्वाभाविक स्थिति से मुक्त होना है और यह तभी हो सकता है जब उसके साहित्यिक कृतित्व और अर्थ-लाभ में सीधा सम्बन्ध हो। यह बात मेरे मन में दो-तीन वर्षों से चुभी हुई है और मैं सोचता हूँ कि यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो साहित्यकार को आत्म-निर्भर हो जाना चाहिए। इसके लिए अध्यवसाय और त्याग दोनों ही अपेक्षित हैं। अध्यवसाय इसलिए कि परिमाण में भी आपको इतना साहित्य लिखना पड़ेगा कि उसकी रायल्टी से एक बँधी आय हो जाय, जो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हो, और त्याग इसलिए कि आपको अपनी आवश्यकताएँ कम करनी पड़ेंगी, बहुत सी सुख-सुविधाओं का मोह छोड़ना पड़ेगा। परन्तु यह आत्मनिर्भरता साहित्यकार के लिए अनिवार्य है। यही उसकी वास्तविक मुक्ति है। इस अवस्था को प्राप्त करके ही वह अपने जीवन का नवनीत आपको दे सकता है।" (यह सब नगेन्द्र जी ने उस समय कहा था जब वे रेडियो में थे—यूनिवर्सिटी में आकर कदाचित् अब वे अपने को उतना आबद्ध नहीं पाते।)

नगेन्द्र जी पहले कवि हैं, पीछे आलोचक। आलोचना-क्षेत्र

में स्थान बना लेने पर भी वे कभी-कभी दो-एक गीत लिखते रहे हैं, पर इधर कविता से उनका नाता छूट ही सा गया है। इस परिवर्तन को दृष्टि में रखकर मैंने उनसे पूछा, "आपने कविता लगभग छोड़ ही सी दी है। इससे क्या मैं यह समझूँ कि आपमें राग पक्ष की कमी हो गई और आपका बुद्धि पक्ष प्रबल हो गया है ?"

इस विषय में उन्होंने बताया, "आपका अनुमान मेरे विषय में उतना ही ठीक है, जितना किसी दूसरे के विषय में हो सकता है। साधारणतः आयु और अनुभव के साथ राग पर बुद्धि का नियन्त्रण बढ़ना स्वाभाविक है, परन्तु सहज सीमा से आगे यह बात मुझ पर विशेष रूप से लागू नहीं होती। यह ठीक है कि मैं अपने रागात्मक जीवन में, किशोर दशा को पार कर चुका हूँ और आज इस प्रकार की कोई अभिव्यक्ति मैं अपने लिए अशोभन मानूँगा। इतना होने पर भी जीवन का राजा राग ही है। विवेक का स्थान उसके अंग-रक्षक से ऊपर नहीं है। काव्य रागात्मक है और जब तक राग के प्रति मेरा यह दृष्टिकोण है। तब तक कविता मेरे जीवन से छूट नहीं सकती। यह दूसरी बात है कि वह शब्दबद्ध होकर कागज पर कम आये। फिर भी क्या यह विरलता सर्वथा आकस्मिक/ अथवा अकारण है आप यह पूछ सकते हैं कि मैं आलोचना इतनी अधिक क्यों लिखता हूँ और कविता इतनी कम क्यों। इसका केवल यही कारण मेरी समझ में आता है कि आलोचना की अपेक्षा कविता अधिक अन्तरंग क्षणों की वाणी है और आज के व्यस्त जीवन में इतने अन्तरंग क्षण विरल ही होते हैं। इससे अधिक इस विषय में कुछ कहना उलझन को जन्म देना है।"

"यही क्या, मैं कुछ आगे बढ़कर यह पूछ सकता हूँ कि आपको कविता की प्रेरणा कहाँ से मिली ?" मैंने उनसे पूछा।

वे बोले, "इस प्रश्न का उत्तर आपको मैं प्रसादजी के शब्दों में यही दूँगा—सीवन को उधेड़कर देखोगे, क्या मेरी कन्था की ?"

सायंकाल के साढ़े सात बज चुके थे। सूरज छिप गया था। खुले लॉन में भी धुँधलका छाने लगा था।

मैं नगेन्द्र जी के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर विचार करता हुआ वापस चल दिया।

यों तो वे मेरे पूर्व-परिचित थे—पर आज की खुली बातचीत के बाद मुझे उन्हें और निकट से जानने का अवसर मिला।

मैंने अनुभव किया कि नगेन्द्र जी के स्वभाव में किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं है। पर साथ ही वे जिस बात को उचित समझते हैं, उस पर आग्रह करने में भी नहीं चूकते। सरल इतने हैं कि आज इतनी ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने पर भी वे सबको पहचानते हैं और चिर परिचित मित्र की भाँति मिलते हैं। मित्रों के बीच वे आज भी इतने मुखर हो जाते हैं कि किशोरावस्था के नगेन्द्र की याद आ जाती है। उनके व्यवहार में कृत्रिमता या आडम्बर नहीं है; और न वे बढ़-बढ़कर बातें करना ही पसंद करते हैं। लज्जा और संकोच के कारण वे भीड़-भड़भड़ वाले उत्सवों में नहीं जाते, पर मित्रों की गोष्ठी में सदा रसिक नायक का पार्ट अदा करते हैं। साहित्यिकों में उनकी लोक-प्रियता का एक कारण उनके स्वभाव की यह सजीवता और सरसता भी है। उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने रागात्मक और बौद्धिक तत्त्वों का प्रयत्नपूर्वक संश्लेषण कर रहे हैं। अपने बौद्धिक क्रिया-कलापों में अनुरत रहने पर भी वे जीवन के रागात्मक पक्ष का बड़े आग्रह के साथ पोषण करने के लिए व्यग्र रहते हैं। इसे ही वे व्यक्तित्व की समृद्धि मानते हैं। बाहर से उन्हें देखकर कोई यह भी नहीं कह

सकता कि हिन्दी में शास्त्रीय विषयों पर संस्कृत और हिन्दी-साहित्य-शास्त्रियों के सिद्धान्तों और मान्यताओं को चुनौती देने वाला नगेन्द्र यही है। लेकिन प्रातःकाल उनको साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में डूबे हुए देखकर उनकी ख्याति का रहस्य समझ में आना कठिन नहीं है। मेरा ही नहीं अनेक अध्यापकों तथा साहित्य के गम्भीर जिज्ञासुओं का कहना है कि छायावादी युग के आलोचकों में उनके-जैसा प्रखर विवेचन अन्य आलोचकों में कम मिलता है। उनकी पकड़ ला-जवाब होती है। बीच में वे रेडियो में चले गए थे, जिससे हिन्दी-जगत् में यह भ्रम फैल गया था कि नगेन्द्र की साहित्य-साधना समाप्त हो गई, पर अब दिल्ली-विश्वविद्यालय के रीडर तथा अध्यक्ष रूप में अपने उचित स्थान और क्षेत्र में आने पर यह भ्रम निर्मूल हो जायगा और वे अधिक गंभीरता तथा तत्परता से साहित्य-सेवा करेंगे, ऐसी आशा है।

जून १६५२]

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ३५ वें अधि-वेशन पर मैं जब बम्बई गया था, तब यह न सोचा था कि वहाँ उन व्यक्तियों से भी भेंट हो जायगी, जो शुद्ध साहित्य-सेवा में संलग्न रहते हैं। कारण सम्मेलन कुछ गुटबन्दों और अखाड़ियों की सम्पत्ति है, उसमें साहित्य-सेवी के लिए स्थान नहीं है। महादेवी जी के शब्दों में 'साहित्यसेवी होना सम्मेलन के लिए एक प्रकार से अयोग्य सिद्ध होना है।' इतने पर भी बम्बई में जितने साहित्यिक आए थे, उतने किसी और सम्मेलन के अधिवेशन में शायद ही आये हों। पीछे इसका पता चला कि सम्मेलन से तो अधिक सरोकार साहित्यिकों को न था, वे तो बम्बई देखने आये थे। खैर, यहीं 'अंचल' जी से भी भेंट हुई। अबोहर-सम्मेलन के बाद से 'अंचल' जी से यह मेरा पहला साक्षात् परिचय था। पहला इसलिए कि अबोहर में 'अंचल' जी से अधिक निकटता नहीं हो पाई थी, जब कि इस बीच में पत्र-व्यवहार द्वारा हम लोग काफी निकट आ चुके थे। अबोहर में मैंने उन्हें दम्भी समझा था, जब कि अब पाँच-छः साल के बाद—मैं उनके कवि-हृदय की परख कर चुका था। उन्होंने भेंट होते ही आत्मीयता के साथ एकदम घर-बाहर की बातें पूछ डालीं, मानो वे मेरे समस्त

सुख-दुःख का लेखा ले रहे हों। इस मस्त और सशक्त कवि के व्यवहार को देखकर मुझे उसकी 'मधूलिका' की यह पंक्ति याद आ गई—

'हमें सदा विश्वास सखी री, इस मदभरी जवानी का!'

'मदभरी जवानी' के विश्वासी इस कवि की 'लाल-चूनर' की आलोचना में मैंने इसकी गणना 'लघुत्रयी' में की थी। आप शायद इस 'लघुत्रयी' का अर्थ जानना चाहेंगे। आपकी जानकारी के लिए मैं इसका स्पष्टीकरण कर दूँ। छायावादी युग में प्रसाद, निराला और पंत को 'वृहत्रयी' कहा गया था। मैंने प्रगतिवादी युग में नरेन्द्र, 'अंचल' और 'सुमन' को 'लघुत्रयी' नाम दिया है। यह 'लघुत्रयी', संभव है आपको न रुचे; परन्तु इसकी सार्थकता आप तब समझेंगे, जब इस पर गंभीरता से विचार करेंगे। नई कविता में इन तीनों कवियों ने पर्याप्त योग दिया है, यही सोच-कर मैंने यह नामकरण किया है।

'अंचल' जी से भेंट होते ही मेरे मन में आया कि क्यों न उनसे इण्टरव्यू लिया जाय। बम्बई आने का कुछ तो लाभ उठाया जाय। यह विचार मन में आता था कि उसी दिन शाम को मैंने अपना विचार 'अंचल' जी के सामने रख दिया। मेरे इण्टरव्यू लेने का अर्थ हिन्दी के कलाकारों के आन्तरिक जीवन का रहस्योद्घाटन है, इसे कलाकार और मेरे पाठक दोनों जानते हैं। इसीलिए मैं जब-जब इण्टरव्यू के लिए किसी भी व्यक्ति के पास गया हूँ, उसने मेरे ऊपर और मेरे द्वारा हिन्दी जनता पर कृपा की है; अपने जीवन के अन्तरङ्ग का वास्तविक लेखा देकर। 'अंचल' जी भी तैयार हो गए और दूसरे दिन मेरे ही तम्बू में वे उपस्थित हो गए, इसलिए कि वहाँ एकान्त था।

मैं तुरन्त ही अपनी लेखनी सँभालकर बैठ गया और 'अंचल' जी जमीन पर एक साथी के बिस्तर के पुलन्दे के सहारे

लेट गए। तम्बू में उस समय और कोई साथी नहीं था। केवल मैं और प्रतिभाशाली कवि कुछ देर तक इधर-उधर की बातचीत में डूबे रहे हैं। सहसा फिर भेंट वाला कर्तव्य की पुकार पर तटस्थ होकर प्रश्न करने को बाध्य हुआ और पूछ बैठा "आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके कलाकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई ?"

'अंचल' जी यह देख कर कि अब उत्तर दिये बिना छुटकारा नहीं है, चौंकते हुए भी प्रश्नकर्ता की ही भांति गम्भीर होकर कहने लगे हैं—"जिस समय मैंने होश सँभाला, उस समय अपने को विचित्र स्थिति में पाया। मेरे पूज्य पिता पं० मातादीन शुक्ल उस समय तीन-तीन पत्रों का सम्पादन कर रहे थे। जबलपुर से वे 'छात्र-सहोदर' नामक मासिक, 'हितकारिणी' नाम की दूसरी मासिक पत्रिका और 'तिलक' नाम के अर्द्ध-साप्ताहिक का सम्पादन कर रहे थे। मैं केवल ७-८ वर्ष का था। हमारा घर उस समय जबलपुर के साहित्यिक केन्द्रों में एक था। हिन्दी के कितने ही तत्कालीन उदीयमान लेखक नित्य सुबह-शाम उठते-बैठते थे। घर में कोई नौकर न होने के कारण हर दसवें-पन्द्रह मिनट बाद मुझे भीतर जाकर पान लाने पड़ते थे और बराबर पास बैठना पड़ता था। साहित्यिक दृष्टि से ऐसा अनुकूल वातावरण मुझे मिला, जो विरलों को ही मिलता है। वहीं से मेरे भीतर साहित्य के प्रति-अनुराग का अंकुर उगा है।

पिता जी एक स्कूल में अध्यापक भी थे। गर्मी की छुट्टी में हम लोग दो मास के लिए सपरिवार गाँव चले जाते थे। हमारा गाँव फतेहपुर जिले में यमुना के किनारे पर है और चारों ओर जैसे प्राकृतिक सौंदर्य-श्री से लदा पड़ता है। जबलपुर के शहरी वातावरण से निकल कर और पारिवारिक अनुशासनों से मुक्त होकर गाँव में पहुँचते ही मैं बिलकुल आवारा हो जाता था। नानी

के यहाँ, जहाँ हम लोग ठहरते थे मैं दिन में केवल दो बार घर जाता था। दिन भर न जाने कहाँ-कहाँ, किन-किन जंगलों में धूप और लू की परवाह न करके घूमा करता था। अधिकतर अकेला, पर कभी-कभी साथ में एक साथी भी होता था। दो महीने कितनी जल्दी बीत जाते थे! गाँव से वापस चलने की तारीखें जुलाई शुरू होते ही दिल के चारों ओर चक्कर काटने लगती थीं। मेरा साथी तो और भी व्याकुल हो जाता था। मेरे चार सौ मील दूर चले जाने की और फिर अगली गर्मियों तक न मिल सकने की विषादान्त परिस्थिति हम लोगों को कई दिन तक ओस से भीगे मन लिये एक दूसरे से बात भी न करने देती थी। शिशिर की तरह हम लोग मन की ओस से बराबर भीगते रहते थे। न मेरा साथी मुझसे रुकने का आग्रह कर सकता था और न मैं असहाय किशोर उसे अपने साथ ले जाने की बात मन में ला सकता था। हम दोनों दिल के करुण घूँट पीकर रह जाते थे। वर्षों यही क्रम चलता रहा। मिलन और विरह के ऐसे अनेक झटके खाते-खाते मैं आगे बढ़ता गया।"

इतना कहते-कहते 'अंचल' जो, मैंने देखा, कुछ रुकने से लगे। शायद इसलिए कि जो वे कह रहे थे, उससे अधिक वे नहीं कहना चाहते थे। खैर, जो कुछ वे कह चुके थे, मेरे लिए वही पर्याप्त था; इस कारण मैंने उनसे आगे पूछा—"आपको साहित्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ से और किस प्रकार मिली?"

अपने को व्यवस्थित करते हुए और पान की गिलोरियाँ मुँह में दबाते हुए वे बोले—"आठ-नौ वर्ष की उम्र से ही कविता की ओर मेरी अभिरुचि जागृत हो गई थी। पिता जी के मुख से उनकी और दूसरे कवियों की सरस रचनाएँ सुनते-सुनते और उन्हें जोर-जोर से स्वयं पढ़ते-पढ़ते मैं उसी समय से जमीन-आसमान के स्वप्न देखने लगा था। एक ओर मेरी बाह्य

परिस्थितियाँ मुझे कवित्व के प्रति—रस के माधुर्य के प्रति अधिकाधिक ग्रहणशील बनाती थीं, दूसरी ओर जैसे-जैसे मन कविता के उल्लास और उत्साह को आत्मसात् करता जाता था, वैसे-वैसे जीवन की स्थितियाँ, मन की गति और प्रतिवर्ष मिलने वाले और बिछुड़ने वाले साथी के प्रति एक बड़ी ही उत्कट, मादक और एकनिष्ठ परिपूर्णता तन-मन पर छाई रहती थी। मैं तुक-बन्दियाँ तो कभी से करने लगा था, जिनमें अर्थ तो कम होता था, संगति नहीं के बराबर होती थी, पर मन की असहनीय अभिलाषा व्यक्त हो ही जाती थी। लेकिन उस सबको लिखना नहीं कहा जा सकता। हाँ, एक बात अवश्य है कि अभिव्यक्ति की शक्ति तो उस समय नहीं थी, फिर भी एक तृष्णा तन से उठते-बैठते नहीं जाती थी। अपने साथी के तन और मन से भी अधिक उसके चम-चम मन की सुन्दरता को कैसे शब्दों में बाँधूँ इसी के लिए पंखहीन पक्षी की तरह अपने भीतर-भीतर तड़पकर रह जाता था। मन में पूरा विश्वास था कि उसके कपूर-जैसे तन और चाँदनी के समुद्र-जैसे मन के गीत जल्दी-से-जल्दी गा लूँगा। लेकिन आज पन्द्रह व सोलह वर्ष लिख लेने के बाद और भाषा पर किसी सीमा तक अधिकार उपलब्ध कर लेने के बाद मुझसे ईमानदारी से यदि पूछा जाय, तो मैं कहूँगा कि मेरे मन पर पड़ी उस जीवित मूर्ति की छाया की अवदातता की एक झलक भी मैं नहीं दिखा सका। आगे दिखा पाऊँगा, यह भी संदिग्ध है, क्योंकि मेरे पिता जी अक्सर कहा करते हैं कि संसार के अच्छे कवियों की कविताएँ बीस और पैंतीस वर्ष की उम्र के बीच में लिखी गई हैं। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ऐसा सत्य होगा, तभी तो मेरे पिता जी कहते हैं। और मैं इस अवधि के द्वार बन्द करने जा रहा हूँ। बीच में ऐसी मानसिक क्लान्ति और जड़ता का समय आया,

जब मैं कविता की ओर से बिलकुल विमुख हो गया और जीवन में ऐसा भयानक गद्य छा गया कि इण्टरमीडियेट में आते-आते मैं कविता लिखने की ओर से बिलकुल और पढ़ने की ओर से भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक अलग हो गया। उस समय यदि कोई मुझसे कविता लिखने के लिए कहता था, तो मैं अपने अध्यापक के शब्दों को दुहराकर कहता था—'यह गद्य-काल है। कविता लिखने वाले तो बहुत हैं, पर सशक्त गद्य लिखने वाले कम। मैं उसी दिशा तक सीमित रहूँगा।' जिस समय मैं सातवें दर्जे में था, उस समय मेरी पहली कहानी, जो इतिहास के आधार पर थी, कान्यकुब्ज कालेज, लखनऊ की पत्रिका में निकली थी। मैं कालेज की पत्रिका के प्रत्येक अंक में कहानी या गम्भीर लेख लिखने की चेष्टा करता था। मेरे अध्यापक मेरी योग्यता और साहित्य के सम्बन्ध में मेरी जानकारी पर मुग्ध थे। न जाने हिन्दी की कितनी पुस्तकें मैंने उसी समय पढ़ डाली थीं—विशेषकर कहानी, उपन्यास, यात्रा-वृत्तांत और समझ में आने वाले गम्भीर लेख-संग्रह भी। मैं हिंदी की सारी पत्रिकाएँ नियमित रूप से प्रतिमास पढ़ता और प्रत्येक उल्लेखनीय लेखक की नई-से-नई कविता, कहानी या लेख कहाँ प्रकाशित हुआ है, यह मुझे ज्ञात रहता था। मेरे अध्यापकगण मुझसे कविता लिखने का आग्रह भी करते थे, पर मेरा मन तो मरुधरा बन चुका था। कविता लिखने को मेरी प्रवृत्ति ही नहीं होती थी। यूनिवर्सिटी में आकर फिर कविता की ओर मेरा खोया और सोया प्रेम जागा और लौटा। मेरी सबसे पहली कविता सन् १६३२ में 'माधुरी' के मई या जून के अंक में निकली थी। तब से जीवन में कविता की ऐसी लहर आई कि आज तक कविता अविराम गति से लिखे जा रहा हूँ। सैकड़ों कविताएँ लिख डालीं। मेरे साथ एक मुश्किल और है। मेरा बचपन का

साथी अनुभव तो करता है, मन उसका भी विद्ध होता है, आँखें उसकी भी रोती हैं, उसकी आत्मा से भी बराबर उष्ण रक्त की बूँदें टपकती हैं, लेकिन वह गरीब उनको व्यक्त नहीं कर पाता। एक 'सविवेक पशु' होने के नाते मैं इतना स्वार्थी नहीं हो पाता कि केवल अपनी ही बेचैनियों को व्यक्त करके चुप हो जाऊँ। यदि ऐसा करता हूँ, तो मुझे लगता है कि मेरा ईमान और उसकी निबिड़ता मुझे क्षमा नहीं कर सकती। आखिर मुझे अपनी ही भोगी हुई यातना और मानसिक पीड़ा व्यक्त करने का क्या अधिकार है, यदि मैं अपने जीवन की खंडित किन्तु साकार अपूर्ति की मनोवेदना व्यक्त नहीं करता ?"

"तो क्या मैं यह समझूँ कि आपकी प्रेरणा का मूल स्रोत यही मूक, अपनी पीड़ा को व्यक्त करने में असमर्थ साथी है ?" मैंने पूछा।

"हाँ अवश्य," उन्होंने कहा, "कविता की प्रेरणा का स्रोत तो वह है ही, और भी न जाने क्या-क्या है ? मेरे अशांत, उद्भ्रांत, अधीर, चंचल, दुर्बल और न जाने कहाँ-कहाँ की बेचैनियों से घिरे मन को उसमें वही मिलता है, जो तुलसी को राम में या सूर को कृष्ण में मिलता था। इन महा कवियों की स्वप्न में भी समता कर सकता हूँ, यह इसका आशय नहीं है, मेरा मतलब सिर्फ मन की निर्भ्रान्त एकाग्रता और एक निष्ठता से है। उपर्युक्त कथन से केवल मेरे मन के भीतर उठ-उठकर मिटने वाली और मिट-मिटकर उठने वाली सर्वस्व समर्पण की बुझती-पलती कामना की 'लौ' का ही भाव समझा जाय। यों भी मैं समझता हूँ कि पूजा का मूलाधार कोई महत्त्व नहीं रखता। जिस निष्कपट तन्मयता के साथ तुलसी राम को प्यार कर सकते थे या उनकी भक्ति कर सकते थे, जीवन की जड़ों में उमड़ने वाली वैसी ही दुखड़े-भरी लगन से यदि एक

साथी दूसरे साथी पर मरता-मिटता और बनता-बिगड़ता है, तो तुलसी में वह छोटा भक्त या आराधक कैसे हो सकता है ? आपके इस प्रश्न के उत्तर में यदि मेरा सारा जीवन बोल उठे, तो भी वह प्रेरणा के इस महान स्रोत की विशालता का आभास न करा सकेगा। चारों ओर से पराजित होकर और टूटकर जब दृगों के आगे अँधेरा छाने लगता है या कोई बहुत बड़ा प्रलोभन आकर आदर्शों के स्वप्नों को मृत सिद्ध करने लगता है, उस समय जीवन की वही ज्योतिर्मयी दिशा आकर मन को बल प्रदान करती है। जीवन की वही कसक जैसे उठते-बैठते कहती चलती है—'संतोष, विश्राम और पराजयशीलता मृत्यु है।' संतोष परिस्थितियों के प्रति पराजयशीलता का ही दूसरा नाम है। उसके विपरीत असन्तोष और तृष्णा जीवन है। यदि मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त करनी है, तो जीवन में डूबे रहना ही होगा। मैं नहीं समझता कि जिस व्यक्ति के मन पर जीवन का कुटिल प्रहार हुआ हो, वह इसके अतिरिक्त किसी अन्य मनो-दशा में कैसे रह सकता है ? आज की गलत सामाजिक व्यवस्था और उसके शोषण के दुष्परिणामों ने भी मुझे प्रेरणा कम नहीं दी है।"

"तब तो इसके आधार पर आपके आलोचकों का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि 'अंचल' की कविता में असंतोष, तृष्णा और नग्नता का प्रदर्शन है और उसमें कलाकार के योग्य संयम की कमी है!"

'नग्नता का आरोप स्वीकार करने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। मैं मानता हूँ कि अपने आवेगात्मक पुनर्जन्म के आरम्भिक दिनों में मैंने दो-चार कविताओं में वासनाओं की तीव्र अभिव्यक्ति की है और मेरा भाव-प्रकाशन शारीरिकता की तरंगों से परिपूर्ण है, लेकिन मेरे पूरे काव्य में पाँच प्रतिशत लाइनें भी तो ऐसी

नहीं हैं। यदि आलोचक मेरे काव्य-सृजन के इस सबसे छोटे अंश को ध्यान में रखकर ही मेरी सारी कविताओं पर इस प्रकार फतवा दे देते हैं, तो इसमें मेरा दुर्भाग्य तो है ही, साथ ही मुझे अपने आलोचकों की सदाशयता पर भी संदेह होने लगता है। प्रगति की चेतना के इस नवयुग में शायद कुछ शक्ति रखने वाले कवियों को समाप्त करने का उनके पास यही अस्त्र है। लेकिन मैं तो इस प्रकार की चेष्टा को बड़े निम्न धरातल की बात समझता हूँ, जहाँ मुझे घुटन मालूम होने लगती है। नग्नता से मैं उतनी ही घृणा करता हूँ, जितनी कोई भी परिष्कृत रुचि रखने वाला व्यक्ति कर सकता है। एक बात जरूर है, एक विदेशी उपन्यासकार के शब्दों में मैंने कभी नारी को उस दृष्टि से नहीं देखा, जिस दृष्टि से वह स्वयं अपने को आदम-कद आइने के सामने प्रसाधन करते समय खड़ी होकर देखती है। हमारे हिन्दी के आधुनिक सौन्दर्यवादी कवियों ने नारी को इसी रूप में देखा है, जैसे पन्त, प्रसाद, निराला आदि ने। मेरी दृष्टि सदैव सामाजिक प्राणी की रही है। समाज में नारी के बहुत से रूप होते हैं। माँ, बहन, भाभी, प्रेमिका, साथिन, सहपाठिन, सहकर्मिणी आदि न जाने कितने रूप उसके हैं। नारी को मैं इसीलिए उस मुग्ध और शैशव भरी तटस्थ संभ्रमशील तथा निस्संग दृष्टि से नहीं देख सका, जिस दृष्टि से छायावादी कवियों ने देखा। साथ ही यह भी तय है कि भाव-धारा और विचारशीलता में भले ही हम यथार्थवादी और प्रगतिशील हों, पर हमारी सामाजिक चेतना और नारी-सम्बन्धी मान्यताएँ अभी छायावादी युग-जैसी ही हैं। मेरी कविता में प्रकट होने वाली तृष्णा और लालसा शायद इसलिए भी उन्हें नग्न मालूम देती है। यदि हमारा समाज भी उस गति से आगे बढ़ा होता, जिस गति से हमारा साहित्य बढ़ा है, तो आज मेरे और मेरे-जैसे अन्य कवियों पर वह आक्षेप न लगाया

जाता, जो लगाया जाता है।

यह तो हुई नग्नता की बात। प्रदर्शन के सम्बन्ध में मुझे कहना है कि प्रदर्शन वह करता है, जिसके पास कुछ होता है। मैं तो इतना शून्य हूँ, इतनी रिक्तता अपने में पाता हूँ, जिसे दूसरा मनुष्य बरदाश्त नहीं कर सकता। ऐसा अकिंचन और अपदार्थ व्यक्ति तो अपने भीतर अधिकाधिक डूबेगा, न कि प्रदर्शन करने के लिए बाहर उभरेगा। प्रदर्शन में तो कृत्रिमता का बोध होता है मैं और किसी भी दोष का दोषी होऊँ, पर साहित्य में—और जीवन में भी—कभी प्रदर्शन का हिमायती नहीं रहा। अतः मैं यह आरोप भी मानने को तैयार नहीं हूँ। आपके सामने आज पहले-पहल ही मैं यह बात कह रहा हूँ। आलोचकों की न जाने कितनी रायें मुझ पर बनीं, न जाने कितने फतवे मुझ पर दिये गए, लेकिन मैंने पहली पुस्तक प्रकाशित कराते ही यह निश्चय कर लिया था कि किसी भी आलोचक की राय न काटूँगा। कोई आवश्यक नहीं कि जो मैं लिखूँ वह सबको पसन्द ही आये। और यदि मैं सामाजिक मर्यादा को ठेस नहीं पहुँचाता, तो मुझे पूरी स्वतन्त्रता है कि मैं जो चाहूँ सो लिखूँ। मैं स्वतन्त्रता की परिभाषा में गलतियाँ कर सकने का अधिकार मानता हूँ और साहित्यिक के नाते मैं स्वतन्त्रता का दावा कर सकता हूँ। हां, मर्यादा की बात भी साफ कर देना चाहता हूँ। मैं तो यह मानता हूँ कि जीवन का सजीव चित्रण ही एक जीती-जागती, हँसती-बोलती मर्यादा है। अपने आदर्श के प्रति वफादारी से बढ़कर न तो कोई परम्परा है और न कोई सामाजिक विश्वास। यह आदर्श और उसके प्रति एकप्राणता यदि मैं अपने में ला सकूँ, तो बाह्य दृष्टि से मैं आचारिक मर्यादा का अतिक्रमण कर सकता हूँ, पर जहाँ तक तत्त्वों की दृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ तक मेरा साहित्य समाज को और समाज की

इकाई पाठक को चैतन्य की ओर ही ले जायगा। मर्यादा या उसके पालन का प्रश्न साहित्यकार को उसी दशा में परेशान कर सकता है, जब उसके पास दीपक की तरह जलता हुआ आदर्श न हो। फिर मैं यह नहीं समझता कि जो व्यक्ति अपने को आज के आगे बढ़े बौद्धिक युग में आदर्शवादी घोषित करता या मानता है, इसमें कोई हीनता नहीं समझता, उस पर मर्यादा के भंग करने का दोष कैसे लगाया जाता है? क्या कविता में चुम्बन का एक उल्लेख करते ही या आलिंगन की एक व्याकुलता का चित्रण होते ही सामाजिक मर्यादा डगमगाने लगती है? यदि एक नारी पुरुष के प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण करती है या पुरुष नारी-सौन्दर्य के प्रति, उसके अंगों के दरस-परस के प्रति कौतूहल-भरी अनुरक्ति दिखाता है (जैसा मेरे एक उपन्यास में चित्रित किया गया है) तो इससे क्या सदाचार की परम्परा नष्ट हो जाती है? क्या हमारे सामाजिक सौख्य और आचारिक आधार की जड़ें इतनी कमजोर हैं?"

इस अन्तिम वाक्य की समाप्ति के साथ हमारे एक साथी ने सूचना दी, "आज कवि - सम्मेलन है, उसमें सबको चलना है?"

यह सूचना मानो हमारे लिए विराम का संकेत बनकर आई। हम लोगों ने अपनी बातचीत स्थगित कर दी और कवि-सम्मेलन के लिए तैयार होने का उपक्रम करने चल दिए।

इण्टरव्यू को पूरा करने के लिए हम लोग फिर मिले—बम्बई-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कार्यालय में। एक बगल वाले कमरे में हम इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए बैठे। साथ में जबलपुर के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी श्री बसन्त पुराणिक भी थे। आज हमने अधिक समय बात चीत में नहीं लगाया। समय नष्ट न हो, यह सोचकर मैंने 'अंचल' जी से पूछा, "वे

देशी-विदेशी कलाकार कौन से हैं, जिनका आपके ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा है ?"

'अंचल' जी ने कहा—"मेरे जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव रवीन्द्र और शरत् का है। रवि बाबू की सौन्दर्य-निष्ठा, रस-सृष्टि, जीवन की तरंगित सुषमा-सज्जा और अमूर्त की विराटता, भव्यता और प्रसारता को दैनिक जीवन के छोटे-छोटे मूर्त आधारों में भरने की अद्भुत क्षमता मुझे बहुत भाती रही है। दूसरी ओर शरत् का सामाजिक दृष्टिकोण और उसके भीतर से जगमगाता हुआ व्यक्तित्ववाद मुझे जीवन के सम्बन्ध में और उससे सम्बन्धित सांसारिक व्यापारों के सम्बन्ध में एक निश्चित दृष्टि प्रदान करते हैं। यही कारण है कि अभिव्यक्ति के निखार और भाव-प्रकाशन की चित्रात्मकता के लिए मैं रविबाबू का ऋणी हूँ, तो अपने उपन्यासों में सुरक्षित आदर्शवाद के लिए शरत् ने मुझे बल दिया है। कथा का रस तो शरत् बाबू में है ही, सबसे बड़ी बात उनमें मुझे यह मिलती है कि उनका सम्पूर्ण साहित्य उन अहंवादी बौद्धिकों को चुनौती है, जो अपनी दृष्टि में डूबे रहकर और असामाजिक होकर समाज का संचालन करना चाहते हैं। लोग कहते हैं कि शरत् में व्यंग की आधुनिकता नहीं है। उन्हें मालूम होना चाहिए कि आधुनिक साहित्य की विशेषता जो व्यंग माना जाता है, उसके पीछे सामाजिक प्रेरणा उतनी नहीं होती, जितनी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं से पराजित होने के कारण उत्पन्न होने वाली अतृप्ति और अवसाद-वृत्ति। शरत् के साहित्य में यही नहीं है। ऐसी अनासक्त, निरपेक्ष तटस्थता और जीवन की उलझनभरी समस्याओं के प्रति ऐसा आदर्श प्राण मनोभाव भारतीय कलाकारों में कम दिखाई देता है।

देशी कलाकारों में इन्हीं दो ने मेरी चिन्ता-धारा और प्रेरणा-प्रवाहों को गति प्रदान की है। विदेशी कलाकारों

में टामस हार्डी, डास्टोवस्की, रोम्या रोलाँ, गोर्की, सोलोखोव, वर्जीनिया वुल्फ, एथिल मैनन, डी० एच० लारेंस आदि ने मेरे ऊपर अमित प्रभाव डाले हैं। मेरी प्रवृत्ति यह है कि मैं किसी एक कवि या लेखक का इतना बड़ा भक्त नहीं हो पाता हूँ कि दूसरों के प्रभाव से परे हो जाऊँ। प्रत्येक तत्त्वनिष्ठ कलाकार, जो जीवन की विषमताओं का हल सुझाता है, मुझे प्रभावित करता है। इसका परिणाम कभी-कभी यह भी होता है कि विचित्र विरोधाभासों का झुण्ड मेरे मन के भीतर लग जाता है और अपने कला-विन्यास की एक सुनिश्चित रेखा मैं नहीं बना पाता। मेरे कुछ आलोचकों ने मुझे 'कनफ्यूज्ड' (उलझा हुआ या भ्रान्त) कहा है। लेकिन यह मेरी सच्ची लाचारी है और कहीं-कहीं यदि यह कमजोरी साबित होती है, तो शक्ति बन जाती है, क्योंकि इससे मेरी ग्रहणशीलता बढ़ती है। साहित्यिक जीवन के उषा-काल में आस्कर वाइल्ड की ओर मैं विशेष रूप से आकर्षित हुआ और ऐसा कि उसकी किताबें जेब में डाले घूमा करता था। उस समय के जीवन में इस प्रकार की एकांगी मुग्धता थी, पर अब ऐसी बात नहीं है। शरत् बाबू का भक्त होते हुए भी, जीवन के प्रति उनके भावनाशील दृष्टिकोण का अनुगामी होते हुए भी, मुझे प्रेम-चन्द का जनतावाद बहुत भाता है और इस दृष्टि से संसार के कलाकारों में टाल्स्टाय के बाद मैं उन्हीं का नम्बर मानता हूँ। दूसरे शब्दों में इसी को पटभूमि की प्रसारता या 'केनवास' की विराटता कहा जा सकता है।

विदेशी कवियों में मुझे शैली, कीट्स और बायरन के अतिरिक्त ओडेन, स्पेण्डर और डेलुई की कविताएँ प्रभावित करती हैं। हिन्दी-कवियों में 'निराला' और 'नवीन' ने मुझे सबसे अधिक प्रेरणा दी है। जोश और जिगर की शायरी, इकबाल की खुदी की फिलासफी, जो सामाजिक स्रोतों को पाकर

न जाने कितना बड़ा परिवर्तन कर सकती है, मुझे सशक्त जान पड़ती है। सत्य तो यह है कि आपका यह प्रश्न मुझे बड़ा उलझाने वाला जान पड़ता है। जिन लेखकों या कवियों के नाम मैंने लिये हैं, उनके अलावा औरों का प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ा, ऐसा मैं नहीं कह सकता। मेरा मानसिक गठन कुछ इस प्रकार का है कि जहाँ कहीं मुझे जीवनोन्मुख गति और संस्कार-शीलता दिखाई पड़ती है, वहाँ अप्रभावित रहना मेरे लिए कठिन हो जाता है।"

"लेकिन आप अपने को आदर्शवादी कैसे कहते है, जब कि आप हैं यथार्थवादी ?" मैंने उनसे प्रश्न किया।

इस प्रश्न पर उन्होंने अपने पास पड़े बैग में से 'समता' मासिक पत्रिका का एक अङ्क निकाला और एक लेख में अपने आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों को बताते हुए कहा—"यथार्थवाद मेरे लिए एक चित्रण-शैली है, जीवन-दर्शन नहीं और आदर्शवाद मेरे निकट जीवन-हीन परम्पराओं का दास बनाने वाला मतवाद नहीं, वरन् एक क्रान्ति-मुखी मर्यादा है। अपनी कविताओं और उपन्यासों में मैंने कहीं भी भावना की एकनिष्ठता और युग-युग से उपलब्ध अपने देश के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय सत्यों के आधार की अवहेलना नहीं की। इसी अर्थ में मैं अपने को आदर्शवादी मानता हूँ। जिस प्रकार से हो, मनुष्य की असामाजिक, अमानवीय और अस-मानता की मनोवृत्ति को दबाकर उसे अधिक-से-अधिक परहित-जीवी, पर-प्राण बनाया जाय, यही मेरा आदर्शवाद है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वभावतः मुझे ऐसी शैली अपनानी पड़ती है, जो मेरे विषय के साथ न्याय कर सके। आज किसी भी उन्नत साहित्य में आदर्शवादी शैली के लिए स्थान नहीं है। यथार्थवाद हमारा सबसे पैना कलात्मक अस्त्र है, जिसे जीवन की

जटिलता ने और भी पैना बना दिया है। मुश्किल यह है कि मेरे पाठकों और आलोचकों ने (जो ऐसा कहते हैं) बाह्य स्वरूप को तो देखा है, अन्तस्थ पर इतना ध्यान नहीं दिया। उन्होंने यह नहीं देखा कि कर्म और बलिदान की जिस पुनीत और शोधक भावना से स्वस्थ जीवन-सौंदर्य को जन-जन के लिए सुलभ बनाना है, वह आज यथार्थवाद के माध्यम से ही हो सकता है, लेकिन यह यथार्थवाद मानव के स्तर को ऊँचा उठाने वाला हो, गिराने वाला नहीं। मनुष्य के मन को शोषण और स्वार्थ-साधन की कुत्साओं से मुक्त भी तो करना है। आर्थिक विषमता और श्रेणीजन्य शोषण और परमुखापेक्षिता तो नष्ट करनी ही है, साथ-ही-साथ मनुष्य के मन को अज्ञान, अवसाद, मोह, मत्सर, कुसंस्कार और जड़ रूढ़ियों के दायरे से भी निकालना है। इसलिए मैंने समाजवादी आदर्श को अपनाया है। समाजवादी आदर्श का प्रयोग यहाँ मैं राजनीतिक अर्थ में नहीं कर रहा हूँ, वरन् आगे आने वाली व्यापक लोक-संस्कृति के अर्थ में कर रहा हूँ। जहाँ तक प्रेम का सम्बन्ध है या नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्ध की बात है, वहाँ तक मैं प्रेम को अपरिवर्तनशील मानता हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि जो लोग एक पत्नी के मरने पर विरह-काव्यों का सृजन करते हैं, वे कैसे साल-दो साल बाद ही नये सिरे से प्रेम करना आरम्भ कर देते हैं। मैंने अपने साहित्य में जीवन के उस सर्वस्व-समर्पणशील मूल स्वर को उतारने की चेष्टा की है, जो भक्ति और प्रेम का सौदा नहीं करता, जिसके भीतर अर्चना के मूर्त आधार बदलते नहीं और जिसका सूत्र जीवन के उस पार तक चलता है।"

वाक्य समाप्त होते-होते पास बैठे पुराणिक जी से उन्होंने पानों की माँग की, जैसे आगे बढ़ने के लिए विश्राम का एक माध्यम ढूँढ़ा हो। पान आए। एक साथ दो बीड़े लेकर उन्होंने

कहा—"अब आप आगे चलिए।"

मैंने अनुभव से यह जाना कि इस समय निस्संकोच भाव से वे अपने विचार व्यक्त करने की तरंग में हैं और अकृत्रिम भाव से—आत्मीयता के साथ—सब-कुछ बताने को तैयार हैं। इसलिए मैंने उनसे पूछा—"एक ओर तो आप प्रेम की निष्ठा की बात करते हैं और दूसरी ओर सौंदर्य की तृष्णा ज्वाला की तरह जल रही है। यह परस्पर-विरोध आपके जीवन और काव्य में क्यों है ?"

मैं समझता था कि कदाचित् वे इस प्रश्न पर कुछ सोचेंगे और तब उत्तर देंगे, लेकिन बिना कुछ सोचे सहसा मुझे आश्चर्य में डालते हुए वे कहने लगे, "मैं इन दोनों को परस्पर-विरोधी नहीं मानता, वरन् एक दूसरे का पूरक मानता हूँ। प्रेम की एक-निष्ठता और परिपूर्णता तो रूप की तृष्णा की वृद्धि करती ही है, लेकिन रूप की तृष्णा का उद्भव कहाँ होता है, यह भी देखना होगा। जीवन के बुनियादी सपने की राख पर आत्मा की घनीभूत वेदना से निस्सृत निष्कपटता की ज्योति जगाए रखने वाली रूप की तृष्णा यदि प्रेम की एकनिष्ठता से आती है तो वह जीवन का मंगल-गीत है। क्या प्रेम की चेतना दुःख की संवेदना के लिए ही है और दुःख की संवेदना रूप की रंगीनियों से चमकाई नहीं जा सकती। मैं तो यह मानता हूँ कि यदि प्रेम में एकनिष्ठ समर्पण है और सर्वस्व दान की पुनीत व्यापकता है तो संसार की कोई सुन्दर वस्तु और उसकी सुषमा का काव्य-गायन व्यक्ति के लिए स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है। वह प्रेम ही क्या जो प्रसरणशीलता को लेकर नहीं चलता। प्रेम की परिपूर्णता का अर्थ सौंदर्य की यथार्थ अनुभूति और बोध से है। एक बार जिसे ईश्वर की अनुभूति हो जाती है, वह फिर कण-कण में ईश्वर का आभास पाता है। इसी प्रकार जिसने एक बार सौंदर्य

की शारीरिक या अशारीरिक अनुभूति कर ली, वह संसार की किसी भी सुन्दर वस्तु को प्यार किये बिना नहीं रह सकता। एक ऐसा पारदर्शी तादात्म्य उसके भीतर जाग उठता है, जो प्रतिक्षण उसके भीतर रूप का प्रबोध जगाए रखता है। उसे तब सब भाने लगते हैं। वह शरीर का नहीं, व्यक्ति का नहीं, भाव का, सौंदर्य के संसार का पुजारी बन जाता है। उसे ऐसा लगने लगता है कि प्रत्येक सौंदर्य-कृति में उसी पुनीत शिखा की झलक है, जिसके चारों ओर शलभ की भाँति जलकर आज उसने यह प्राप्त किया है--यह भावना की अखण्डता पाई है। प्रेम की एकनिष्ठता से मेरा तात्पर्य सदैव वासना से ऊपर उठने की ओर या प्रवृत्तियों के मांगलीकरण की ओर रहा है। एक सुन्दर वस्तु को प्यार करने का अर्थ यह नहीं कि दूसरी सुन्दर वस्तुओं के गीत न गाए जायँ। प्रेम तो एक चेतना है, एक दृष्टि है, एक जीवन-व्यापिनी तन्मयता है और इसमें यदि रूप की साधना और सौंदर्य की पूजा के लिए स्थान न होगा तो उसकी महत्ता ही क्या रही ?"

'अंचल' जी के काव्य के भीतर सौंदर्य और रूप की तृष्णा के समावेश के सम्बन्ध में इतना अधिक स्पष्टीकरण हो चुका था कि मैंने और अधिक बातें इस सम्बन्ध में करना ठीक नहीं समझा, क्योंकि वैसा करने से कोई लाभ न था। यह निश्चय करके मैंने उन्हें इस प्रसंग से दूर ले जाने के लिए उनसे पूछा—"आप छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद से क्या समझते हैं ?"

उन्होंने कहा—"छायावाद मेरी दृष्टि में द्विवेदीकालीन नैतिकता और इतिवृत्तात्मकता के प्रति भारतीय जीवन के भीतर चारों ओर से उमड़कर आने वाले रोमांसवाद की नैसर्गिक और अनिवार्य प्रतिक्रिया है। अंग्रेजी कविता में जिस प्रकार से 'रोमांटिक रिवाइवल' होता है और काल-विशेष के विद्रोह को

आत्मसात् करके साहित्य की धारा को ही फिर बदल देता है. उसी प्रकार छायावाद दशाब्दियों से रुँधी हुई घुटन-भरी भाव-धारा और अभिव्यंजना प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह करके अधिक हार्दिक और सजीवतापूर्ण काव्य-दर्शन को जन्म देता है। साथ-ही साथ देश की वृद्धिगत राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व त्याग करने की देश-व्यापी भावना छायावाद को एक प्राणवत्ता और मस्ती देती है। विद्वान् आलोचकों ने इसके सम्बन्ध में चाहे कुछ भी कहा हो, लेकिन यह मेरी धारणा है कि छायावाद ने हमारे जीवन के विद्रोहात्मक पैनेपन को बढ़ाया और उस सामाजिक धर्म को जन्म दिया, जिसे शैली, बायरन, कीट्स की कविता ने अंग्रेजी साहित्य में दिया।

रहस्यवाद मेरी समझ में एक विशिष्ट प्रकार की आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचने वाले और रमण करने वाले मन की स्थिति का नाम है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य की आत्मा अशरीरी देवत्व की ओर बढ़ती है। मेरे कई मार्क्सवादी मित्र मेरी इस प्रकार की बातों का मजाक उड़ाते हैं, लेकिन, उनसे तर्क करने की शक्ति न रखने पर भी और उनकी विद्वत्ता के सामने छोटा होने पर भी, आत्मा और उसके दैवत्व को मैं मानता हूं और कदाचित् इसीलिए मुझे रहस्यवादी कविता प्रिय भी है।

प्रगतिवाद मैं उस प्रवृत्ति को मानता हूँ, जो साहित्य और समाज की पलायनशीलता को नष्ट करने का सन्देश सुनाती है। पलायनशीलता से मेरा तात्पर्य उस अहंवादिनी शुतुर्मुर्गी चेष्टा से है, जिसके वशीभूत होकर मानव मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनाने वाली महान् रासायनिक क्रिया से उदासीन होकर अपनी अतिमानवीय या अमानवीय प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करता रह जाता है। एक बात यहाँ स्पष्ट कर दूँ। आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हुए मैं आत्मा के नाम पर संसार की समस्याओं

और विषमताओं से घबराकर पलायनशील और निश्चेष्ट होने का विरोधी हूँ। आत्मा को भी मैं एक सामाजिक शक्ति मानता हूँ—व्यक्ति तक सीमित रहने वाली और व्यक्ति के मन की सनक के अनुसार खुलने-मुँदने वाली एकांतिक परिपूर्ति नहीं। प्रगतिवाद मेरे लिए कोई वाद नहीं, क्योंकि वाद में विवाद होता है और मैं साहित्यकार के लिए विवाद उतना आवश्यक नहीं समझता, जितना विश्वास। हाँ, इस विश्वास की जड़ें उस भूखी-नंगी जनता के हाड़ों पर होनी चाहिएँ, जो केवल आज हमारे देश में ही नहीं, सारे संसार में लूटी जा रही है। इस विश्वास की जड़ें उस शोषण के संसार में होनी चाहिएँ, जो व्यक्ति को व्यक्ति से, श्रेणी को श्रेणी से, समाज को समाज से, राष्ट्र को राष्ट्र से लड़ना सिखाता है। वाद स्वप्नों को लेकर चलते हैं और सुख के वातावरण में पलते हैं; लेकिन विश्वास स्वप्नों से बड़ा होता है और संघर्ष सुखों के समाजीकरण का नाम है। सुख एक व्यक्ति तक सीमित न रहकर पूरे समाज का हो जाय, इसीलिए संघर्ष किया जाता है। सारे संसार में आज मानवता का क्रमिक मंद-मंद, और वैज्ञानिक शोषण चल रहा है। इस शोषण के समर्थन के लिए बड़े-बड़े अर्थशास्त्री, बड़े-बड़े वैज्ञानिक, बड़े-बड़े साहित्यकार, कलाकार, पत्रकार और साधक बिना ढूँढ़े मिल जाते हैं; क्योंकि वे शक्ति और सुविधा के पुजारी होते हैं। प्रगतिवादी लेखक इन बातों को महत्त्व नहीं देता। अपने जीवन-काल में उसने जैसा संसार पाया, उससे अच्छा छोड़कर वह मरना चाहता है। वह सबके सुख को अपना सुख मानता है। सब समान नहीं बनाये जा सकते हैं। परन्तु सब सुखी बनाए जा सकते हैं। और सब सुखी तभी हो सकते हैं, जब मानव के द्वारा मानव का नारकीय शोषण बन्द किया जाय। प्रगतिवाद को जो लोग राष्ट्रीयता का विरोधी मानते

हैं, वे भूल करते हैं। प्रगतिवाद केवल पूंजीवाद का विरोधी होता है, सामन्तवाद का विरोधी होता है और जनता की उन्नति के मार्ग में रोड़ा बनने वाले जो इतर वाद हैं, उनका विरोधी होता है: राष्ट्रीयता का नहीं। राष्ट्रीयता तो स्वत: एक हँसती-बोलती, जीती-जागती प्रगति है, बशर्ते कि वह फासिस्ट नायकों की राष्ट्रीयता न हो। राष्ट्र का उत्थान तो तभी होता है, जब राष्ट्र अपनी स्वाधीनता का उपासक होते हुए भी विश्व के हित में समर्पित हो। प्रगतिवाद जिस राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाता है, वह भौतिक स्वार्थों का प्रसार कराने वाली नहीं, वरन् अशिव पर शिव की विजय, पाप पर पुण्य की विजय और विद्रोह की श्रद्धा को लेकर चलती है। उसे सामाजिक स्वतन्त्रता का पर्याय माना जाय। जैसे स्वराज्य हमारे लिए वाद न होकर राष्ट्र का जीवन-दर्शन बन गया और एक नैतिक आवश्यकता समझा गया, उसी प्रकार प्रगतिवाद भी सामाजिक और आर्थिक स्वराज्य का नाम है।"

इस गंभीरता से पूर्ण विवेचन के भारीपन को दूर करने के लिए मैंने एक हल्का-सा प्रश्न बीच में किया, "अब तक की अपनी किस कृति से आपको पूर्ण संतोष हुआ है ?"

अब तक की लिखी कृतियों में से मुझे किसी से भी पूर्ण संतोष नहीं है। यों अपनी कुछ स्फुट कविताएँ मुझे बड़ी प्यारी लगती हैं। जैसे 'जलती निशानी', 'ओ नैया के खेने वाले, 'आज माँझी, मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में' (अपराजिता), 'सखी', 'टूटते हुए तारे के प्रति' (मधूलिका), 'क्या तुम मुझको याद करोगी', 'सर्वहारा', 'दीप जल में बह चला', (किरण-वेला), 'चलचित्र', 'पावस-संध्या में', 'सहसा किसने यों ललकारा' (करील), 'वनफूल', 'नहीं जाती किसी की याद प्राणों से नहीं जाती', 'बोल अरे कुछ बोल' (लाल चूनर),

तथा और भी अन्य कविताएँ मुझे बहुत संतोष देती हैं। उपन्यासों में मुझे 'चढ़ती धूप' लिखकर जो संतोष मिला है, वह अवर्णनीय है। सच तो यह है कि मुझे अपनी प्रत्येक कृति के बाद संतोष मिलता है। यह सफलता की उपलब्धि से सम्बन्ध नहीं रखता, यह सृजन के सुख की परितृप्ति है।"

"क्या आप यहाँ अपनी सृजन के समय की मनःस्थिति पर प्रकाश डाल सकेंगे?"

"जिस समय मैं लिखने बैठता हूँ, उस समय आठ-दस घण्टे लिखकर उठता हूँ। अपना पार्कर पेन और फुलस्केप कागज के पन्ने लेकर जब मैं लिखने बैठता हूँ, तब मेरे सामने 'बादल-से चले आते हैं मजमूँ मेरे आगे' वाली स्थिति रहती है। मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं कितना लिखूँ और क्या-क्या न लिखूँ? मैं बराबर लिखता चला जाता हूँ। कविता तो मैं एक बैठक में एक लिख डालता हूँ और इसमें दो-तीन घण्टे से अधिक का समय नहीं लगता; लेकिन उपन्यास लिखते समय जब तक पूरा दिन और रात-भर सामने नहीं रहता, तब तक लिखना आरम्भ नहीं करता। बीच में यदि कोई बहुत ही आवश्यक कार्य आ जाय, तो मैं ५-१० मिनट के लिए उठता हूँ, नहीं तो मैं पड़े-पड़े पेट के बल, छाती के नीचे एक तकिया रखकर लिखता ही रहता हूँ। भावों के समुद्र में मैं इतना डूब जाता हूँ कि मुझे तन-मन का होश नहीं रहता। कोई मित्र यदि आता है या परिवार का कोई व्यक्ति उस समय बात करता है, तो मुझे बहुत खटकता है और कभी-कभी गलतफहमियाँ भी हो जाती हैं, लेकिन अब लोग मेरी आदत से इतने वाकिफ हो गए हैं कि यदि उस समय मैं उनसे बेरुखी से बात करता हूँ तो वे बुरा नहीं मानते और मुझ पर क्रोध करने की बजाय तरस खाते हैं। कभी-कभी ऐसा जरूर होता है कि लिखते-लिखते मैं बेचैन हो जाता

हूँ और कमरे में जोर-जोर से टहलने लगता हूँ—अपने मन की उत्तेजना को दबाने के लिए। लेकिन ऐसा कम होता है।

लिखता मैं तभी हूँ- जब मेरे भीतर कला की वेदना फूटती है। आग्रह की पूर्ति के लिए मैं नहीं लिख पाता। अधिकतर मैं रात को ही लिखता हूँ, क्योंकि रात में जब घर का कोलाहल शान्त हो जाता है और आकाश से निस्तब्धता पूरे वेग से बरसने लगती है, उस समय मन को एक विचित्र-सा ठहराव मिलता है। लिखने के बाद मुझे ऐसा लगता है, जैसे मन का कोई बोझ उतर गया हो और बड़ी समत्वपूर्ण परितृप्ति मुझ पर छा जाती है। ऐसे विचित्र उल्लास का अनुभव अपने भीतर करता हूँ, जो कभी-कभी मुझे ही हास्यास्पद-सा जान पड़ता है। शारीरिक थकावट तो आ जाती है, पर मन निर्भ्रान्त और मुक्त हो जाता है। न जाने कितनी रातें मैंने इस प्रकार बिना सोए, रात-रात-भर लिखकर काटी हैं।

उपन्यास लिखने से पहले जिस स्थिति या वातावरण का चित्रण करना होता है, उसे मैं दस-पन्द्रह घण्टे पहले से अपने दिमाग में पकाता रहता हूँ और आँखों के सामने आने वाले प्रत्येक दृश्य, बात और पाठ्य-सामग्री से रूप-रंग का संचार करता हूँ। शिल्प-विधान की चिन्ता मैं नहीं करता, क्योंकि तंत्र या टैकनीक मेरे लिए गौण है। रचना की शक्ति ही उसके लिए टैकनीक बन जाया करती है। रस के सृजन और विचारोत्तेजकता को ही मैं प्रमुखता देता हूँ। मैं मानता हूँ कि जिस कलाकार में इनका संतुलित सौंदर्य नहीं है, वह न तो लोकप्रिय हो सकता है और न साहित्य के ऊँचे आदर्श की पूर्ति ही कर सकता है।"

"आपको साहित्य-सृजन से कभी विरक्ति भी हुई है? यदि हाँ, तो उसके कारण क्या-क्या रहे हैं? और विरक्ति होने पर भी आपने लिखना क्यों जारी रखा है?"

यह प्रश्न जब मैंने किया तब पुराणिक, जो बीच में यह सोच-कर उठ गए थे कि न जाने कब तक इनकी बातचीत चले, अचानक पान लिये और मुँह में सिगार दबाए आ गए। 'अंचल' जी को उन्होंने पान तो दिये ही, एक सिगार भी दिया और 'अंचल' जी पान चबाते हुए सिगार का कस खींचने लगे। सुना है कि हिन्दी-लेखकों में पद्मकान्त मालवीय सबसे अधिक पान खाते हैं, पर यदि कोई देता रहे तो 'अंचल' जी भी बिना मना किये पान खाते चले जायँगे। पान खाने से उन्हें विशेष स्फूर्ति मिलती है। संभव है, वे लिखते समय भी पान खाते रहते हों। मैंने तो यह अनुभव किया है कि पान उनके विचारों के स्पष्टीकरण का साधन-सा है। अस्तु।

उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"कभी-कभी मन और शरीर इतने चिन्ताकुल हो जाते हैं कि जैसे प्राण थक गए हों और अवसाद की ऐसी कुहेलिका तथा कुण्ठा घेर लेती है कि लिखना-पढ़ना तो फिर भी कुछ हो जाता है, पर मन की उस क्लान्ति और जड़ता-भरी स्थिति में लिखा नहीं जाता। हफ्तों यह मनःस्थिति रहती है और एक विचित्र घायलपन-सा आ जाता है। अतीत की स्मृतियों का भी उसमें बड़ा हाथ रहता है। जब पारिवारिक चिन्ताएँ अधिक रहती हैं, तब लिखना रुक जाता है; लेकिन जब मन को आघात मिलते हैं और पीड़ा बढ़ती है, तब लिखने की उत्कट इच्छा होती है। जिस सामाजिक विषमता का बोध मेरे-जैसे श्रमजीवी को उठते-बैठते हुआ करता है, वह लिखने की उत्तेजना में सहायक होता है। हाँ, जब घर में कोई बीमार पड़ जाता है, उस समय लिखने की अपेक्षा उस कुटुम्बी की सेवा करना या रोगी की तीमारदारी करना अधिक सुखकर जान पड़ता है। आर्थिक अभाव भी लिखने में बाधक हुआ है और प्रकाशकों की हृदय-हीनता ने भी कम अनुत्साहित नहीं किया, पर

इस स्थिति से उबरना मेरे लिए अधिक कष्टसाध्य नहीं रहा। सच तो यह है कि बिना लिखे मैं रह नहीं सकता।"

"क्या आपकी सम्मति में साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है?" मैंने पूछा।

"जिया तो जा सकता है, पर सृजन के सौंदर्य की रक्षा नहीं की जा सकती। कारण यह है कि मनुष्य की शक्तियाँ सीमित होती हैं, इसलिए कलाकार को जीविका के लिए दूसरा माध्यम चुनना चाहिए। कलाकार के लिए सबसे हानिकर बात है पत्रकारिता। एक बार पत्रकार का जीवन अपनाते ही कला के मूल्यों की रक्षा करना और साहित्य के ऊँचे स्वरूप को। बनाए रखना बड़ा ही कठिन हो जाता है। आज तो हिन्दी-लेखक को इतना पैसा मिल रहा है कि वह साहित्योपजीवी होकर साधारण रूप से सुखी जीवन बिता सकता है: लेकिन उस समय उसे जो लिखना होगा वह सामयिकता और बाजार की माँग को ध्यान में रखकर लिखना होगा। न तो वह साहित्य के आदर्श की रक्षा कर सकेगा न कला की परिष्कृति को सँभाल सकेगा, इसलिए मेरा मत है कि कोई दूसरा पेशा अपनाकर उसे साहित्य का निर्माण करना चाहिए। यह अवश्य है कि जो वह लिखे, उसे वह अधिक-से-अधिक मूल्य पर बेचे और उस पर ज्यादा-से-ज्यादा लाभ पाने की चेष्टा करे; लेकिन लिखे वह स्वतन्त्र प्रेरणा से ही, पैसे के लिए नहीं। एक बार कोई चीज लिख लेने पर उसका बाजार-भाव किया जाय; बाजार-भाव से प्रेरित होकर न लिखा जाय।"

"लेकिन कठिनाई तो यह है कि दूसरा पेशा अख्त्यार करने वाले आलसी हो जाते हैं और लिखते नहीं। तब फिर अच्छे साहित्य की दृष्टि से हिन्दी का भविष्य क्या होगा?"

"जिस गति से हिन्दी में लिखने वालों की संख्या बढ़ रही है, उससे साहित्य का भविष्य असंदिग्ध है। शीघ्र ही वह समय

आने वाला है या आ रहा है, जब लोग हिन्दी में लिखना उतनी ही शान की बात समझेंगे, जितनी आज से दस साल पहले अंग्रेजी में लिखना। इतने बड़े राष्ट्र की भाषा में लिखकर यश प्राप्त करने का लोभ संवरण करना उनके लिए कठिन हो जायगा। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में परिमाण की तो वृद्धि होगी ही, साथ-ही-साथ जनता की सांस्कृतिक रुचि को अकुण्ठित रूप से विकसित होने का अवकाश भी मिलेगा। इस प्रकार के सांस्कृतिक विकास का आधार होगा मानवीय मूल्यों की पूर्ण प्रतिष्ठा। कविता कथा और नाट्य-साहित्य में नये-नये प्रयोग होंगे और वे जीवन के अधिकाधिक निकट आयँगे। जिस समय जनता की रुचि पूर्ण परिष्कृत हो जायगी, उस समय जनता का विवेक पुष्ट होगा और वह सबल साहित्य की माँग करेगी और एक बार साधक साहित्यकारों को पनपने का अवसर मिलेगा।

शीघ्र ही वह समय आने वाला है, जब शोषक और शोषितों के बीच की खाई और बढ़ेगी और दोनों अधिकाधिक संगठित होंगे। यहाँ मेरा मतलब गृह-युद्ध की भावना से नहीं है, वरन् संस्कृति की रक्षा के लिए आज हिन्दी का साहित्यकार यह अनुभव कर रहा है कि उसके सामने केवल दो मार्ग हैं—या तो वह प्रगति की शक्तियों का साथ दे या दिन-पर-दिन बुझती हुई प्रतिक्रियावादी शक्तियों का। इस सम्बन्ध में हिन्दी का साहित्यकार किसी भी भाषा या देश के साहित्यकारों से कम जागरूक नहीं है। यदि उसे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ रहना है, तो भी वह इस सम्बन्ध में द्विधाहीन है; लेकिन इस प्रकार के प्रस्तरीभूत साहित्यिकों की संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकांश साहित्यकार तो समन्वित मानवीय मूल्यों का आविष्कार करने, उनका स्वरूप स्पष्ट करने और हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में उनकी प्रयोग-दिशा इंगित करने में लगे हैं। हमारी जिम्मेदारी भारी है। हिन्दी-

साहित्य मूलतः ऐसा माध्यम है, जिससे समस्त भारतीय जीवन की अभिव्यक्ति की जा सकती है और जिसे संसार के साहित्य के सामने पेश किया जा सकता है। शीघ्र ही नवीन और प्राचीन का समन्वय होने वाला है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था तो बदलेगी ही, आज के असामाजिक और व्यक्ति-प्रधान मानव-मन को नये सिरे से गढ़ने की चेष्टा भी की जायगी। आने वाली तरुण पीढ़ी से मुझे इस सम्बन्ध में बड़ी आशा है। उनमें से अधिकांश लेखक और कवि न जाने कितनी विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करके साहित्य-सृजन कर रहे हैं। सामाजिक विद्रोह के मोर्चे पर वे शुरू से ही आ डटे हैं। प्रगतिशील तो वे हैं ही, क्योंकि एक विराट् ध्येय को लेकर वे चलते हैं और उनकी गति का अनुगमन करती हुई भविष्य की उज्ज्वलता भी चल रही है।"

अन्त में जब मैंने उनकी हॉबी, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि के विषय में पूछा तो बोले—"मेरी हॉबी अध्ययन है। दर्शन, काव्य, राजनीति और साहित्य यही मेरे प्रिय विषय हैं। इधर कुछ दिनों से बागबानी का शौक पत्नी और बड़े बच्चे के कारण हो गया है। मित्रों के साथ बैठकर सुख-दुःख की बातें करना या साहित्य और समाज की चर्चा करना मुझे बड़ा प्रिय है। अच्छी फिल्म देखने की भी रुचि है—यदि वे फिल्में पहले से प्रसिद्ध पुस्तकों—उपन्यासों के आधार पर बनी हों। घूमने, भ्रमण करने और जंगली स्थानों—पहाड़ों—और मैदानों में अकेले या साथियों के साथ घूमना भी बहुत भाता है। मध्य प्रदेश में आने के बाद तो यह शौक और बढ़ गया है, क्योंकि यह तो प्राकृतिक सौंदर्य और घने जंगलों का देश है। ऐसे-ऐसे वन-प्रान्त हैं जो देखते ही बनते हैं। बीमारों की सेवा और तीमारदारी में बड़ा सुख मिलता है। यह भी मेरी एक प्रधान हॉबी है।

खान-पान में विशेष रुचि नहीं है। जो पाता हूँ, खा लेता हूँ। पर यहाँ भी स्वादिष्ट और चटपटे भोजन का भेद अवश्य अनुभव होता है। आमिष और निरामिष दोनों चलते हैं। वेश-भूषा में साफ और सुरुचिपूर्ण कपड़े पहनने का व्यसन अवश्य है। जो कुछ कमाता हूँ, कपड़ों पर ही खर्च हो जाता है। सफेद रंग गर्मियों में और काला रंग जाड़ों में पसंद करता हूँ। सूट, अचकन, टाई, कुर्ता, पाजामा, कमीज सभी पहनता हूँ। नेकर और धोती दोनों बिलकुल नापसन्द हैं। धोती पहनने पर तो 'कान्फीडेन्स' नहीं आता कि अधोदेश सचमुच आच्छन्न है। घर-द्वार के लिए क्या कहूँ ? एक अपनी रुचि का बँगला बनाने की साध बड़ी पुरानी है, पर कभी पूर्ण भी होगी मेरे-जैसे साधन-हीन, संघर्षों में घिरे मध्यवर्गी जीव की, इसमें सन्देह है। बस्तियों से दूर कहीं सरिता-तट पर हरे-भरे उद्यान से घिरा घर हो, जिसमें शोर-गुल और कलह-कोलाहल न सुनाई पड़े ऐसे वातावरण में मुझे आप-से-आप लिखने की प्रेरणा होती है। यों भी रात में जब बच्चे सो जाते हैं और निबिड़ शान्ति हो जाती है तभी लिखने की प्रेरणा होती है। पढ़ा तो कैसे भी कोलाहल और शोर-गुल से भरे वातावरण में जा सकता है पर लिखने के लिए जिस अपूर्व शान्ति की जरूरत होती है वह मुझे आज तक किसी मकान में नहीं मिली।

पहले खेल-कूद, कसरत का बड़ा शौक था। कालिज और यूनीवर्सिटी में पहली टीम में हॉकी और फुटबॉल खेलता था। अन्य कसरतें भी करता था। अब पिछले पन्द्रह वर्ष से सब छूटा पड़ा है। वही संचित स्वास्थ्य है, जो अब तक साथ दे रहा है। नियमित जीवन से मेरा घोर वैर है। जब चाहे सोऊँ और जब तक चाहे सोऊँ, यह स्वतंत्रता चाहता हूँ। किसी प्रकार के बन्धन का मन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। सारा अस्तित्व सारी

दुनिया जैसे अर्थ-हीन, असंगत और बेकार लगने लगती है।"

'अंचल' जी के हिन्दी के भविष्य और तरुण पीढ़ी द्वारा नवयुग-निर्माणकारी साहित्य की आशा और विश्वास से भरे इन शब्दों के साथ हमारी बातचीत समाप्त हो गई।

दिसम्बर १६४८]

९

श्री प्रभाकर माचवे

"आइए 'बिहारी-सतसई' के भाष्यकार की नाम-राशि !" कहकर अपनी विशिष्ट उन्मुक्त हँसी के साथ माचवे ने मेरा स्वागत किया।

अब माचवे पुराने माचवे नहीं हैं। अब वे मोटे, कुछ तुँदियल, सरकारी दफ़्तर के सुखासीन क्लर्कों की तरह बाह्यतः आत्म-तुष्ट जान पड़ते हैं। जब पहले-पहल मैंने उन्हें देखा था तब वे दुबले-पतले तो नहीं, गठे हुए शरीर के महत्त्वाकांक्षी तरुण थे। यह सन् '३६ की बात है। वे नागरी-प्रचारिणी-सभा, आगरा में 'साहित्य-रत्न' कक्षा में पढ़ते थे। नंगा सिर, ढीला पाजामा और लम्बा कुर्ता, पैरों में चप्पल, यही उनकी वेश-भूषा थी। तब आगरा कालिज, में दर्शन-शास्त्र के एम० ए० के विद्यार्थी भी वे थे। मैं 'विशारद' में पढ़ता था। लड़कों से पता चला था कि ये कवि, कहानी-लेखक और व्यंग्य-चित्रकार है। परिचय प्राप्त करने का न तो अवकाश था, न साहस। दूर से ही मैं उन्हें देखता था और उनके मुख पर झलकती तेज-मिश्रित सौम्यता की ओर खिंचता था। भाई श्री नेमिचन्द्र जैन, डॉक्टर राकेश (काशी-विश्वविद्यालय) और माचवे तीनों को कभी-कभी साथ भी देखता। उन्हीं दिनों आगरा से श्री हरिशङ्कर शर्मा के सम्पादकत्व

में 'प्रभाकर' निकलता था। उसमें एक गीत माचवे ने लिखा था, जिसमें संध्या के समय एक प्रवासी पथिक की मनोदशा का चित्रण था। दूसरे सप्ताह श्री राकेश ने उसका जवाब दूसरा गीत लिखकर दिया था। उन दोनों गीतों की लड़कों में काफी चर्चा हुई थी। नवीन ढंग की कविताएँ लिखने वाली इस मण्डली का मेरे ऊपर बड़ा आतंक था। माचवे के कुछ कार्टून भी उन दिनों 'सैनिक' और 'प्रभाकर' में छपे थे।

दूसरी बार सन्' ४० में पूना-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर माचवे को मैंने हाथ में बड़ा-सा बैग लिये, हाफ शर्ट और नेकर तथा बिना मौजों के ही शू पहने देखा। उस समय वे एक वालंटियर से लगते थे। परिषदों की कार्यवाही के नोट्स लेने और साहित्यकारों के स्कैच बनाने में वे लगे रहते थे। उन दिनों वे लिख खूब रहे थे, इसलिए जब किसी ने दूर से बताया कि ये प्रभाकर माचवे हैं तो बदली हुई वेश-भूषा में भी आगरे की स्मृति के बल पर उनका चित्र मेरे मस्तिष्क में आ गया। परिचय तब भी नहीं हुआ।

इधर जब' ४७ में प्रगतिशील लेखक-संघ का जलसा प्रयाग में हुआ तो उनसे परिचय हुआ। मुझे आश्चर्य हुआ यह जानकर कि उन्हें मेरे नागरी प्रचारिणी सभा में पढ़ने, गुजरात में हिन्दी-प्रचार के लिए जाने और फिर सभा में अध्यापन-कार्य करते हुए स्वयं अध्ययन करने के विषय में पूरी जानकारी है। कब, किस पत्र में, मेरी कौन सी रचना छपी और उसमें क्या बात उन्हें पसन्द आई ये बातें भी उन्होंने सहज ही बता दीं। यही नहीं वे मिले भी ऐसे जैसे हम वर्षों के मित्र हों। उस समय प्रयाग-संगीत-समिति-हॉल में एक दिन हम दोनों पास बैठे थे। लोक-गीत-सम्मेलन था। माचवे जी ने मंच पर बैठे न जाने कितने कवियों के स्कैच मेरे देखते-देखते बना डाले थे। बाद में उन्होंने इस जन-

कवि-सम्मेलन पर 'हंस' में लेख भी लिखा था।

उसके बाद से वे कहीं रहे हों सदैव विचार-साम्य के कारण मैंने उन्हें अपने निकट पाया है। विस्तृत अध्ययन और विशाल भ्रमण के कारण उनका दृष्टिकोण उदार और व्यापक हो गया है। इसलिए भी वे मुझे अच्छे लगते रहे हैं। गम्भीर अध्ययन और बहुत से विषयों के ज्ञान के कारण मैंने उनका आदर भी किया है, पर वे मुझे सदैव एक मित्र की भाँति मानते रहे हैं।

इसी जून में दिल्ली के आल इण्डिया रेडियो-स्टेशन पर मेरी उनसे भेंट हुई, तो उनसे भी मैंने इण्टरव्यू लेने का प्रस्ताव किया। इण्टरव्यू देने की बात पर माचवे बोले, "साहित्य में अभी तो बहुत सा कार्य करना है। 'कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी!' सुनो कमलेश, इतने जल्दी तो मरते नहीं! क्योंकि मौत को जल्दी बुलाने के कोई काम मैं करता नहीं। वजन १८६ पाउंड है। निराला जी के शब्दों में वजन के हिसाब से आदमी कुछ साहित्य-सर्जन करता है। यह जरूर है कि नौकरी में बँध जाने पर इस वृषभ-राशि के प्राणी की गरदन पर जूआ पड़ गया है। फिर भी आगे बहुत मैदान है, और करने के लिए बहुत काम है। खास तौर से हिंदी में। हम भौतिक परिस्थितियों से लाचार चाहे हों, फिर भी हिम्मत हमारे मन में बहुत है। तुम जानते हो, रवीन्द्र-नाथ ने दरिद्रता की प्रशंसा में क्या अच्छा कहा है—'हे दारिद्र्य तुमि मोहे करेछो महान्! तुमि आमाय दाओ खिष्टेर सम्मान—कंटक-मुकुट शोभा!!"

बारह बरस तक प्रोफेसरी करने के कारण हो, चाहे अत्यधिक पठन-पाठन और अध्ययन के कारण, माचवे को यह अभ्यास हो गया है कि बोलते हुए, लिखने की ही भाँति, न जाने कितने उल्लेख, कितने संदर्भ, कितने उदाहरण और कितनी कथाओं में से निकलने वाली अन्तर्कथाएँ वह कहते जाते हैं—सहज भाव से,

जैसे अपने आनन्द में औरों को शामिल करने की उनकी इच्छा हो। मैंने कहा—"आपका कथन सत्य है और निराला तथा रवीन्द्र-के विचार भी विवाद से परे हो सकते हैं, पर मैं तो प्रत्येक साधनाशील साहित्यकार के जीवन को महत्त्व देता हूँ। भले ही आपकी रचनाएँ पुस्तकाकार कम निकली हों, पर लिखा आपने काफी है। इसीलिए आपका भी इण्टरव्यू लेना चाहता हूँ।"

"भाई सुनो", उन्होंने फिर अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, "इण्टरव्यू देना मैं आईने में देखकर बनने सँवरने वाले व्यक्ति की मनःक्रिया की तरह मानता हूँ। उसमें आदमी खामख्वाह 'सेल्फ-कान्शस' हो ही जाता है। यानी यह बात जाहिर है कि तुम सवाल पूछोगे तो मैं कितना ही चाहूँ फिर भी अपने को जरा छिपाते, दबते-दबाते हुए जवाब दूँगा। खयाल कुछ यह भी है कि यह छपने वाली भी है, पढ़ने वाले क्या कहेंगे वगैरह-वगैरह। यानी कुछ भलेमानुस तो तुम्हारी किताब 'मैं इनसे मिला' का पूरा अध्ययन करके बाद में दूसरे साहित्यकारों से मैं कैसे भिन्न हूँ यह सिद्ध करने के लिए जनाब इण्टरव्यू देते होंगे। मेरी बात दूसरी है मित्र! मैं अपने बारे में बहुत कम बात करता हूँ। मेरी मान्यता है कि जिसे साहित्य-साधना करनी है उसे आत्म-विज्ञापन से बचना चाहिए। एक ही मिसाल देता हूँ कि मैंने हिन्दी में करीब एक हजार कविताएँ' ३१ से लगाकर आज तक लिखीं। शायद चार-पांच सौ छपीं भी, पर बारह वर्ष उज्जैन में रहा—मैंने एक भी कविता कभी किसी कवि-सम्मेलन में या खुले जलसे में नहीं सुनाई। कालिज छोड़ते समय गांधी-जयन्ती-उत्सव में अपने मित्र 'सुमन' जी के आग्रह पर मैंने एक कविता पढ़ी। मैंने हजारों चित्र बनाये, कई मित्रों को बाँट दिए, पर मैंने कभी उनका विज्ञापन नहीं किया। मैं गांधी जी के निकट संपर्क में आया, पर वे जब तक जीवित थे, इस बात

के बारे में कुछ कहते हुए संकोच होता था। बहुत आग्रह मुझ पर जब हुआ तब शायद कहीं कुछ लिखा। मुझे नहीं याद आता कि मैंने कभी अपने-आपको इस प्रकार विज्ञापित किया हो। क्योंकि 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनम्, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख !' वाली कालिदासोक्ति का मैं कायल हूँ। परिणाम यह है कि इस आत्म-दुराव की वृत्ति ने मेरे व्यक्तित्व के आस-पास एक सख्त कवच बना दिया है, जिसे आम लोग रूखापन, एक कुछ सिनिसिज्म (सनकीपन) और मित्र लोग बौद्धिकता कह-कर पुकारते हैं। यों तो मुझमें दो व्यक्ति हैं—एक जो भाव पक्ष वाला 'मैं' हूँ। वह मैं एकांत, निजी, आत्म निष्ठ, अपने गहरे और मीठे तथा ऊँचे अनुभवों में किसी खुदा का भी साझा न मानने देने वाला व्यक्ति हूँ। दूसरा 'मैं' व्यावहारिक, दुनियवी, बौद्धिक, अहंतापूर्ण, सब पर व्यंग करने वाला, सबका मखौल उड़ाने वाला 'मैं' जान पड़ता हूँ। जो वस्तुतः प्रथम, सच्चे 'मैं' के व्यक्तिकरण में गतिरोध पैदा होने से उत्पन्न हुआ केवल प्रतिक्रियात्मक बाह्य 'मैं' हूँ। पर मित्र, यह self analys is करने लग जाऊँगा तो हमें मनोविश्लेषण के दुरंत और उलझनभरे बीहड़ में जाना होगा। छोड़ो भी उस सच्चे 'मैं' की चर्चा। ढोंगी लोगों की दुनिया में कुछ बनकर, तनकर तुम्हारे सामने अपनी शेखी बघार दूँ।—तुम्हारी इण्टरव्यू के लिए काफी हो जायगा न।"

"आप चाहे-जैसे इण्टरव्यू दीजिए। मैं तो आपके विचारों को साहित्य के पाठकों और जिज्ञासुओं तक पहुँचाना चाहता हूँ।" जब वे चर्चा को आगे बढ़ाने के लिए प्रस्तुत हो गए तो मैंने उनसे पूछा, "आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उसके द्वारा आपके कलाकार के निर्माण में कहां तक सहायता मिली ?"

इस प्रश्न का उत्तर देते समय बड़ी लापरवाही और उदासी-

नता भरे स्वर में माचवे ने कहा—"बाल्य-काल और कलाकारिता ? सो पहले सुन लो, मैं अपने-आपको कोई कलाकार-फलाकार मानता नहीं। मैं एक मज़दूर आदमी हूँ—लिखने-पढ़ने का शौक जरूर रहा है। अभी भी है। उसे हज़ार बन्धन और आर्थिक कष्ट मार नहीं सकेंगे। वह अन्तः निर्झर है। अब रही बचपन की बात। सो मुझे याद बहुत कम है। कुछ तथ्य सीधे बताये देता हूँ। २६ दिसम्बर १९१७ को मेरा ग्वालियर में एक 'पाटोर' में जन्म हुआ। 'पाटोर' पत्थर की सिलों के छत वाले छोटे गरीब घर होते हैं। पिता की पन्द्रहवीं, अन्तिम संतान। पिता रेलवे में तारघर में और बाद में ग्वालियर राज्य के डाकखाने में कार्य करते थे। पच्चीस रुपये पेन्शन मिलती थी। मुझे इतना ही याद है कि पिता जी सवेरे जल्दी जगाकर कसरत कराते थे और संस्कृत के श्लोक रटाया करते थे, और हिसाब भी बहुत कराते थे। मुझे तीनों चीजों से तभी से नफ़रत हो गई। संस्कृत का सुव्यवस्थित अध्ययन इसी बचपन की अरुचि के कारण मैं कभी नहीं कर पाया। कसरत का असर अभी भी स्वस्थ तन पर और हिसाब का असर स्वस्थ मन पर तीव्र स्मृति के रूप में है। दोनों बड़े भाई ग्वालियर में संगीत सीखे और बचपन से अच्छा ऊँचा संगीत बहुत सुना (यद्यपि मुझे गाना बिलकुल नहीं आता)। नौ बरस की उम्र में ही पिता का देहान्त हो गया और बड़े भाई रेलवे में होने से कई स्थानों पर हम भटकते रहे। तबियत में सफर के लिए प्रेम बहुत पहले से जाग गया। चित्र-कला और कविता मैंने अपने मँझले भाई से सीखी। यहाँ याद आता है कि मैं जब दस बरस का था तथा संस्कृत छंदः-शास्त्र का काफी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। तब मैंने अपने यहाँ विवाह के अवसर पर रचे जाने वाले 'मंगलाष्टकों' में से एक शार्दूलविक्रीड़ित भी रचा था।

पर तब कविता करना बहुत-कुछ शब्दों की पहेलियाँ बुझाने की भाँति था। अगर ये सब प्रभाव कला को बनाने वाले हों तो आप उन्हें मान ले सकते हैं। मैं तो अपने को मजदूर 'नार्मल' आदमी मानता हूँ। हिन्दी में वैसे कलाकार तो गली-गली में हैं: 'लंबे बाल, लंबी शाल, ढील-ढाल बोल-चाल' वाले अपना चिड़ी-दिल आस्तीन पर लिये निश्वास और अवसाद का विज्ञापन करते फिरने वाले। मैं साहब, ऐसा कलाकार बनने से बाज आया।"

ऐसा लगा जैसे उन्हें वेश-भूषा से कलाकार जँचने वालों के खोखलेपन से सख्त घृणा हो। मैंने इस विषय में कुछ न कह-कर उनकी आरम्भिक शिक्षा के विषय में जानकारी चाही तो उन्होंने बताया, "आरम्भिक शिक्षा घर पर हुई। अंग्रेजी दूसरी में जब आठ बरस का था, भरती किया गया। और पाँच साल बाद १३ वें वर्ष में मैट्रिक किया। १७ वें वर्ष में बी० ए० क्रिश्चियन कालेज इन्दौर से। इन्दौर में मैंने प्रो० मण्डल और चटर्जी से बंगाली सीखी। और इन्दौर में ही सन् '३५ के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में वालंटियरी की। शांतिप्रसाद वर्मा तथा वीरेन्द्रकुमार जैन-जैसे मित्रों के साथ अभिनव-साहित्य-समाज की स्थापना में योग दिया। इन्दौर में ही मैंने हिन्दी विशारद सन्' ३२ में किया। इन्दौर-हिन्दी-साहित्य-समिति से उत्तीर्ण छात्रों में प्रथम स्थान पाया और वहीं मैंने बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स की शाखा में उच्च पेंटिंग की तीन वर्ष शिक्षा ग्रहण की। इन्दौर में ही मैंने मराठी, अंग्रेजी, हिन्दी में वक्तृत्व-कला सीखी! हस्तलिखित मासिक पत्रिकाएँ चलाईं! और सबसे स्मरणीय घटनाएँ प्रेमचन्द और माखनलाल चतुर्वेदी-जैसे साहित्यिकों के सम्पर्क में आने के साथ-ही-साथ सन्' ३४ में बम्बई में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के सभापतित्व में हुई कांग्रेस में जाना है। तब की कुछ बातें (जैसे

सभापति के भाषण का अनुवाद) 'गेहूँ और गुलाब' में राम-वृक्ष बेनीपुरी जी ने लिखी हैं। और प्रथम समाजवादी दल की स्थापना की बैठक भी मुझे अभी तक याद है। इन्दौर से मैं वकालत पढ़ने आगरा आया। १६३६ में वहाँ नागरी-प्रचारिणी-सभा से साहित्यरत्न प्रथम श्रेणी में किया। मेरे पर्चों की चर्चा निराला जी ने नन्ददुलारे वाजपेयी पर लिखे लेख में 'चाबुक' में की है; और वे सम्मेलन-भवन में सुरक्षित भी रखे हैं। तब कविता और निबन्ध के प्रश्न-पत्र में जो उत्तर लिखे थे—वे नकल करके मैंने भेज दिए १६५० में। 'कविता और रहस्यवाद' नाम से 'कल्पना' में वे छपे—ज्यों-के-त्यों। अच्छा साहित्य १६३५ से १६५० तक बासी नहीं होता और प्रश्न-पत्र के पर्चे भी ढंग से लिखे जायँ तो अच्छा साहित्य बन सकते हैं, इसका यह एक सबूत है।"

फिर माचवे अपनी शरारतभरी हँसी से मुझे खींच रहे हैं ऐसा जान पड़ा। वे बहुत कम क्षणों में अपनी बातचीत में गंभीर रह पाते हैं, ऐसा मुझे लगा। तभी मैंने अगला सवाल पूछ लिया, "साहित्य-सृजन की प्रेरणा कब, किससे और कैसे मिली?"

"मैंने बताया न, बचपन में खेल के मैदान से मैं बचता था। घर में किताबें बहुत थीं—पढ़क्कू बन गया और यदि कहूँ कि मेरी साहित्य-सृजन की प्रेरणा कोई काल्पनिक नीली आँखों और सुनहले बालों वाली प्रेयसी नहीं—पर सूखी दर्शन और तर्क और व्याकरण की किताबें हैं तो बुरा तो नहीं मानोगे? पर हाँ वैसे व्यक्तियों के नाम ही लेने हों तो माखनलाल चतुर्वेदी जी ने प्रारम्भिक कविता में इसलाह दी। और गद्य की ओर मराठी अनुवाद की राह से ही क्यों न हो, मुड़ने की प्रेरणा प्रेमचन्द से मिली। उसके बाद अपनी साहित्य-सेवा की यात्रा में दो-तीन नाम गौरव से ले सकता हूँ, जिनके सम्पर्क में मैं आया और बहुत प्रभावित हुआ। वे हैं सर्व श्री जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय और

राहुल सांकृत्यायन। 'कब' का उत्तर है शायद १९३३ में पहली रचना 'कर्मवीर' में छपी। 'किससे' का उत्तर अभी दिया और 'कैसे' कहना मुश्किल है—प्रेरणा का स्रोत सदा अज्ञात ही रहता आया है। रहना चाहिए।"

इण्टरव्यू में अज्ञात को ज्ञात बनाने की ही मेरी इच्छा रहती है। यही इण्टरव्यू का ध्येय है। माचवे इतने पर भी छिपा रहे हैं यह अनुभव करके मैंने एक साथ कई प्रश्न कर डाले—"आपकी पहली रचना कब छपी? उसके बाद की प्रगति क्या रही? पहले कविता लिखी या गद्य की चीज? किन देशी-विदेशी विद्वानों का और किस प्रकार का प्रभाव आप पर पड़ा? प्रत्येक की वह विशेषता भी बतलाइए जो आपके लेखन का अंग है?"

यह सुनकर माचवे कुछ सकपका गए और अपने को सँभालते हुए बोले—"तुमने तो कमलेश, मुझ पर प्रश्नों का पूरा तड़-तड़-तड़ फायर करना शुरू कर दिया। मैं कह चुका हूँ कि मराठी की पहली कविता 'काव्य-रत्नावली' में सन्' ३२ में छपी और हिन्दी की 'कर्मवीर' में। बाद की प्रगति कोई संतोषजनक नहीं है। कभी तो राक्षस की तरह मैंने विपुल, विविध विषयों पर, लघु और बृहदाकार रचनाओं का ऐसा प्रकाशन कराया कि सन्' ३८ से ४० तक मराठी में कोई अच्छी साहित्यिक मासिक और साप्ताहिक' पत्रिका मैंने अछूती न छोड़ी। हर पत्र में लिखा वैसा ही कुछ 'ब्लित्जक्राइग' मैंने बंगाल के अकाल के वक्त ४३-४४ में और विभाजन तथा स्वतन्त्रता और बापू-वध के बाद सन् ४७-४८ में हिन्दी में किया। मैंने बहुत लिखा—जरूरत से ज्यादह लिखा और फिर मैं सहसा चुप हो गया। ऐसी ही निर्वेद की दशा गांधी जी के सम्पर्क में सन्' ४० में आई थी तब एक-दो साल तक रही थी। और वैसी दशा अब इधर दो-तीन

साल से है। मैं शायद आलसी हो गया हूँ—उस गति और स्वच्छन्दता से अब नहीं लिख पाता। कुछ अन्दर में जैसे खो गया है, या कोई गाँठ सी बन गई है। और कुछ करने का मन नहीं होता। तुमको इण्टरव्यू भी ऐसे ही बे-मन से दे रहा हूँ। सो प्रगति काफी Jerks के साथ रही है इसी कारण 'कल्याण' से 'संघर्ष' और 'जनयुग' तक मैंने सब पत्रों में लिखा—किसी पत्र को अस्पृश्य नहीं माना। और गांधीवादी 'जीवन-साहित्य' में उसके आरंभ के दिनों में श्रम-पूजा, तथा सौष्ठव-पूजा-जैसे लम्बे नाट्यांश लिखे, उसी तरह से नरेन्द्रदेव जी की समाजवादी पत्रिका 'संघर्ष' में मैंने दर्जनों कहानियाँ तथा 'गांधी और मार्क्स'-जैसी ३०० पंक्तियों की लम्बी कविताएँ (देखिए २६ जनवरी १९४० का अंक) भी लिखीं। प्रगतिवादी पत्र 'नया साहित्य', 'हंस', 'अगला कदम' आदि में भी बहुत-कुछ लिखा—पर अब वह सब लिखना जैसे खँडहर में गूँजने वाली एक खोखली हँसी की तरह लगता है। 'स्वान्तः सुखाय' का इतना विरोधी होकर भी जैसे वह सब लिखा-कराया निस्स्वान्तः सुखाय ही साबित हुआ। 'स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत सा तन रह गया है'—निराला के शब्द याद हैं। 'सरोज-स्मृति' में उन्होंने लिखा है-'यह हिन्दी का स्नेहोपहार।'

देशी-विदेशी विद्वानों का नाम कहाँ तक गिनाऊँ कभी राम-तीर्थ का कायल था; कभी नीत्से का—मार्क्स भी पढ़ा है, फ्रायड भी, शा और रसेल भी—पर छोड़ो नाम-चर्चा।"

माचवे के स्वर में कुछ भावाकुलता के कारण दर्द और कण्ठा-वरोध सा आ गया मैंने विषयान्तर करके पूछा, "आपके ऊपर किन महापुरुषों का तथा उनके जीवन-दर्शन का प्रभाव है?"

इस विषय में अत्यन्त संकोच के साथ माचवे ने केवल यही कहा—"मैं जीवन में उल्लेख-योग्य केवल एक महापुरुष के सम्पर्क में आया। और पर्याप्त निकट सम्पर्क में आ सका,

ऐसा सौभाग्यशाली मैं अपने-आपको समझता हूँ। वह थे महात्मा गांधी। उनके जीवन-दर्शन का मुझ पर जो प्रभाव हुआ है वह इतना सूक्ष्म और अकथनीय है कि मैं उसके सम्बन्ध में मौन ही रहना पसंद करता हूँ। सन् १९३७ से १९४२ तक मैं कुल मिला कर छः-सात महीने सेवाग्राम में आश्रमवासी के नाते रहा महात्मा जी के परिवार का मैं एक अंग बना। उनके सभी मतों से मेरा मत साम्य नहीं रहा। परंतु उनके अन्दर की मानवता का जिस किसी ने भी कण-भर पाया है वह कृतार्थ है।"

माचवे का विवाह बापू जी ने कराया था। उनकी पत्नी बचपन से बापू और बा के आश्रय में पली हैं। वह भी बहुत स्वाभिमानी हैं।

जब मैंने उनसे उनकी लिखने की विधि, सामग्री-चयन, कविता, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, व्यंग आदि के लिखने की तैयारी के विषय में पूछा तो वे कहने लगे— "मैंने बताया न, मैं मजदूर आदमी हूँ। मैं 'मूड' की प्रतीक्षा में बैठने वाला प्राणी नहीं हूँ। अधिकांश लेखन Pressure के अंदर हुआ है। जैसे इलाहाबाद-रेडियो पर ६० छोटे-बड़े फीचर, रूपक, नाटक आदि लिखे—वे भी जैसे उधर से हुक्म हुआ इधर लिख डाले। वैसे ही संपादकों ने विशेषांकों के लिए अधिकतर मुझसे लिखवा लिया है। मन में खुद होकर बहुत कम लिखने बैठता हूँ। शुरू-शुरू में कविता-कहानी जरूर वैसे मन से लिखता था। तब बचपन में लिखने के आरंभिक दिनों में अक्षरों की खूबसूरती, सजावट, चित्र स्याही का रंग वगैरह चीजों का खयाल जरूर रखता था। अब यंत्र-युग के मानव के नाते कुछ भी चलता है। पर हाँ, कागज पर लाइनें हों तो बंधन जान पड़ता है इसलिए बिना लकीरों वाले लम्बे, बड़े कागज पसंद करता हूँ। लिखता ज्यादातर दवात और कलम से ही हूँ। फाउण्टेन पेन से बहुत कम लिखा है। हाँ

सफर में या किसी बहुत मनोरम विराट् प्राकृतिक स्थल के सम्मुख कविता मन में जगती है। यों मैंने पुरी के समुद्र-तट पर, जुहू के समुद्र-तट पर, नैनीताल में चीना-शिखर पर, दार्जिलिङ्ग में और बास्तर में कविताएँ लिखीं। पर इधर मेरा मन ऐसी रस्मी रचना से बहुत खिंचा रहता है। जब कोश-कार्य किया तब कुछ प्रान्तों का दौरा किया, प्रांतीय भाषा-शास्त्रियों से मिला। तभी शब्दों के इतिहास, उनके अर्थ-पर्याय और ऐसी मजेदार बातों ने मुझे परिहासयुक्त लेखों की ओर उन्मुख किया। वैसे समाज के ढोंगीपन और व्यक्तियों की दांभिकता पर सबसे अच्छी चोट इन्हीं व्यंग-लेखों या प्रहसनों द्वारा हो सकती है। बर्नार्ड शा का व्यंग इसीलिए मुझे बहुत पसंद है। 'खरगोश के सींग' में ऐसे ही निबंध हैं। आलोचनात्मक निबंध लिखता हूँ तब काफी छान-बीन, बहुत से उल्लेख, बहुत सी किताबें आस-पास जमा कर लेता हूँ। अक्सर ऐसा भी हुआ है कि रात के १-२ बजे तक मैं अपने पुराने कागजात और ग्रंथादि उलट-पुलटकर लिखने के स्थान के पास एक पूरा कबाड़ी बाजार ही जमा कर लेता हूँ और एक पंक्ति भी नहीं लिख पाता। बाद में लिखना जब शुरू करता हूँ तो इसकी भी मुझे फिक्र नहीं होती कि मैंने एक बैठक (सिटिंग) में उसे पूरा किया है, या अनेकों मैं वैसे एक-एक रात में ५० पृष्ठ तक लिख डाले हैं। यदि मेरे दरवाजे पर ढोल भी पिटते रहें तो मैं लिखते समय एकाग्रता में विचलित नहीं होता। १६३७ में अहमदाबाद में हम रायटर पी० टी० आई० के दफ्तर में रहते थे। रात-भर टेलीफोन और टेलीप्रिंटर खड़कते रहते; पर मैं उस शोर-गुल में भी बराबर लिखता-पढ़ता रहता। कई कहानियाँ रेलवे के प्लेटफार्म में, थर्ड क्लास वेटिंग-रूम में भी, मैं इसीलिए लिख सका था। पर मैंने बताया न, मुझे कोई व्यसन नहीं। पान या तम्बाकू या भाँग या शराब के आसरे पर लिखने का नशा मैं

नहीं चलाना चाहता। पेट भर भोजन करने पर आलस्य आता है, सो अध-भूखा रहकर ज्यादा काम करता हूँ। कई बार ऐसा भी हुआ है कि मैं लिखने के काम में इतना मशगूल रहा हूँ कि एक-दो दिन खाना भी भूल गया हूँ। सिर्फ चाय के दो-चार प्यालों पर काम चला लिया है।"

"लेकिन आप मूलतः क्या हैं? और उसके बनने में क्या बाधा है?" मैंने एक पूरक प्रश्न जोड़ा।

उन्होंने उत्तर दिया—"मैं मूलतः क्या हूँ, मैं नहीं जानता। उपनिषदों में 'आत्मानं विद्धि' पढ़ा था। ईसा भी 'नो दाई सेल्फ' कह गए हैं। पर अभी तक इतना आत्म-ज्ञान मुझमें नहीं जागा है। जिस दिन जाग जायगा उस दिन आपसे इस तरह गप्पें लड़ाने की मुझको फुरसत नहीं होगी। अब अगर आपका प्रश्न है कि मैं क्या बनना चाहता हूँ—तो शेखचिल्ली की तरह अपने बारे में कह सकता हूँ कि अगर दर्शन पढ़ने आगरा न जाता और अपनी चित्र-कला के अभ्यास को ही चलाता तो मैं चित्रकार बन जाता। अगर थोड़ा-सा संगीत बचपन में सीख लेता, गलेबाजी कर लेता—तो आज आपके अखाड़िया कवि-सम्मेलनी 'सफल' कवियों को मात जरूर दे देता। इंदौर के मिल-मजदूर-संघ का मन्त्री ही अब तक बना रहता तो मुमकिन है वक्तृत्व-कला के जोर पर बड़ा नेता भी बन जाता। पर मित्र, इन बातों से मन भरा नहीं—पढ़ने लगा मैं ग्रंथ, और करने लगा अध्यापकी। और आकर पड़ा हूँ रेडियो में। जाहिर है कि आर्थिक बाधा सबसे बड़ी बाधा जीवन में रही। बी० ए०-एम० ए० में पढ़ता था तब स्वावलम्बी छात्र के नाते ट्यूशनों और साइन-बोर्ड-पेंटिंग से भी क्या होता था? अध्यापक था तब लिखने से कुछ 'शाकाय-लवणाय' और आमदनी कर लेता था (जितनी कि हिन्दी का 'जर्नलिज्म' दे सकता है।) हिन्दी-साहित्य को भी मेरी

खास जरूरत नहीं जान पड़ती। मैंने भी इसीमें लिखने से अब छुट्टी सी ले ली है। 'चिर असंग के प्रति' एक कविता मेरी नागपुर की 'भारती' के प्रथम वर्ष के अंतिम अंकों में छपी थी, शायद अन्तिम पृष्ठ पर, उसे पढ़ना। सो बाधा, संक्षेप में निम्न मध्यम वर्ग में पैदा होने से निरन्तर आर्थिक कष्ट, नम्बर एक। उससे लड़ने के लिए जो दुनियवी चतुराई चाहिए उस चारसौबीसी पन का अभाव, अंतर्मुख स्वभाव के कारण खून लगाकर शहीदों में नाम लिखाने की 'इन्कलाबी और हिंस्रवादी' जिघांसु, जिगीषा भी नहीं गांधी जी के सम्पर्क से व्यक्तिगत सम्बन्धों में अहिंसा का आदेश अधिक प्रिय लगता है अतः हिन्दी का यह सेवक एक असफल कवि, असफल कहानी-लेखक, असफल आलोचक, असफल चित्रकार, असफल उपन्यासकर और असफल निबन्धकार के रूप में आपके सामने वीत-छन्द अवस्था में उपस्थित है। सामान्य विवेकी मनुष्य से भिन्न या अधिक सारांश में मूलतः क्या हूँ मैं नहीं जानता और उसके बनने में जो बाधा है वह पूँजी की इतनी बड़ी दीवार है कि या तो उससे सिर पटककर मैं खुदकशी कर लूँ—या यह मानकर सन्तोष कर लूँ कि मैं दुर्बल-संकल्प-शक्ति का व्यक्ति हूँ। यों अपने निर्माण में सबसे बड़ी बाधा मैं स्वयं हूँ। गीता की बात सच है—(आत्मैव रिपुरात्मन.) और कमलेश, दुनिया को ठगना बहुत आसान है, अपने-आपको ठगना मुश्किल है। ईमानदारी से मैं यह मानता हूँ कि अब तक मैंने अंग्रेजी, मराठी, हिन्दी में जो कुछ लिखा है वह सब न-कुछ के बराबर है—कुछ कण उसमें चमकीले हो सकते हैं (रेती में भी कहीं-कहीं युरेनियम मिला है)— मगर वह सब-कुछ भुला दूँ तो भी कोई बात नहीं। लिखना अभी पूरी तैयारी के साथ आगे है। मुझे आज भी ऐसे महानुभाव मिलते हैं जिनका साहित्य में (तिकड़म से) ऊँचा नाम है और इसी बूते पर उनसे अधिक बौद्धिक

सामर्थ्य और अध्ययन की गहराई लिये हुए मुझ-जैसों को वे सस्ते उपदेश देने का साहस करते हैं। एक सम्पादक आलोचक-प्रवर ने कहा—'माचवे जी, आप इधर-उधर बेकार न लिखकर छात्रोपयोगी कुछ पाठ्य-पुस्तकें लिखिए।' दूसरे ने कहा—'माचवे जी, अभी आप स्वाध्याय कीजिए; किसी एक विषय में ऐसी महारत हासिल कीजिए कि प्रकाशक आप-से-आप आपके पास आ जायँ। (यह महारत अधिकतर साहित्यिक मानों से भिन्न आँकी जाती है) ! तीसरे परामर्शदाता ने उपदेश दिया—'आपकी शक्तियाँ बिखरी हुई हैं—किसी एक लाइन को पकड़ लीजिए, उसमें विशेषता दिखलाइए', इत्यादि। मैं इन अपमानजनक उपदेशों को सुनकर अक्सर पी जाता हूँ। एक उदास व्यंगपूर्ण हँसी हँस देता हूँ।"

मैं जानता था कि माचवे ने पहले अध्यापन छोड़कर रेडियो में नौकरी की और अब लेखन भी छोड़ सा दिया है ! इस परिवर्तन का कारण जानने के लिए मैंने पूछा—"आपने पहले अध्ययन छोड़ा, अब लिखने से भी आपका जी ऊब गया है ऐसा क्यों ? क्या प्रकाशकों के अनुभव और आर्थिक संकट के कारण ऐसा हुआ है ? यदि हाँ तो उससे साहित्यकार की उन्नति का उपाय आपकी दृष्टि में क्या है ?"

उन्होंने कहा–"आपके प्रश्नों को एक-एक करके लेता हूँ। सन् १९३७ के अक्तूबर में मैं लॉजिक का लेक्चरार नियुक्त हुआ। तब से १९४८ के दिसम्बर तक, जब डिग्री कालिज होने पर मैं अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने लगा, बीच में पाँच वर्ष शिक्षा-मनोविज्ञान भी पढ़ाया, मुझे वही तनख्वाह मिलती रही जो शुरू में थी। तुम्हीं सोचो, महँगाई कितनी बढ़ी है। मैं उज्जैन से ऊब गया था। इसमें तात्कालिक कारण यह हुआ कि १९४७ के दिसम्बर में गांधी जी की मृत्यु से एक मास पूर्व मेरे डिग्री क्लासेज के कमरे में

पैंसिल से दीवारों पर लिखा था—'गांधी मुर्दाबाद', 'नेहरू मुर्दाबाद।' यह वहाँ के विद्यार्थियों की मनोदशा थी। तत्कालीन कांग्रेसी शिक्षा-मंत्री भी इस तथ्य को जानते थे। सन् १९४८ में गांधी जी के निर्वाण के बाद मेरी पत्नी का स्वास्थ्य वहाँ बिलकुल ठीक नहीं रहा और मैंने निश्चय किया कि उज्जैन छोड़ दूँगा। मार्च '४८ से जून' ४८ तक मैं राहुल जी के शासन-शब्द-कोश के लिए टंडन जी के पत्र लेकर पाँच-छः प्रांतों में घूमता रहा— मंत्रियों, स्पीकरों, भाषा-शास्त्र-विशेषज्ञों से मिला और उस कार्य को सम्पूर्ण किया। तब २ अक्तूबर १९४८ को मैंने उज्जैन इसीलिए छोड़ा कि जो भी मुझे दूसरा काम मिले मुझे कर ही लेना चाहिए और मैं रेडियो की इस नौकरी से आ टकराया।''

यहीं उन्होंने हिन्दी-पत्रों के विषय में अपने अनुभव बताते हुए कहा—''हिन्दी-पत्रों की दशा भी विचित्र है। पत्र-सम्पादकों के व्यवहार का मुझे बड़ा कटु अनुभव है। है तो दैव-दुर्विपाक ही, परन्तु सत्य यह है कि मेरी दूसरी पद्य-रचना छापे की स्याही में जिस 'वीणा' के विद्यार्थी-जगत् में 'चित्तौड़' पर सन् '३४ में छपी थी, उसी 'वीणा' में मुझे सम्पादकीय तथा अन्य स्तम्भों में छः महीने तक भला-बुरा कहा गया। यह वही 'वीणा' थी, जिसमें मेरे किये ढेरों अनुवाद और संकलन छपे, तथा तीनों कला अंकों का पूरा मसाला दिया, यह वही 'वीणा' थी, जिस के 'रोम्याँरोला' और गांधी-अंकों में मैंने नाम-अनाम अनेक चीजें दीं और जिसके अन्दर के प्रथम पृष्ठ 'कहानी' के दोनों और 'वीणा' अक्षरों के डिजायन मैंने बनाकर दिये थे, जो अब भी छपते हैं। इस कृतघ्नता की क्या सीमा है कि इतने उपकारों के बाद भी पारिश्रमिक तो दूर कभी अकृतज्ञ संपादक ने एक अक्षर से भी मेरे आभार नहीं माने। यह तो कटु अनुभव की बात है। यदि आप मनोरंजक बातें सुनना चाहें तो वे भी

ऐसी हैं कि हिन्दी-पत्र-सम्पादकों पर तरस आता है। 'सुधा' ने मेरा एक लेख डेढ़ साल बाद छापा। एक अन्य पत्र ने मेरे लेखों को दूसरे के नाम से छाप दिया। लेख छापकर अंक न भेजने की कृपा तो अनेकानेक पत्रों ने की। लेख मँगाकर फिर उसे स्थान न देना, उनकी भाषा खराब कहकर लौटा देना, सम्पादक के बदले जाने से कई लेखों का गायब हो जाना, सम्पादकीय उस्तरा इतना चलाना कि लेख का सिर-पैर ही न बचा रहे, शब्दों को—और उसमें भी कविता के—अनावश्यक तोड़-मरोड़ देना। अशुद्धियों का यह हाल है कि अभी भी मुझे अपना कोई लेख जो पूर्णतः शुद्ध छपा हो, देखना है। ऐसे भी उदाहरण मुझे मालूम हैं, जिनमें लेखक का पारिश्रमिक सम्पादक की जेब में चला गया हो। कई पत्र हैं, जो मेरे अटपटे नये नाम से लेख नहीं छापते थे। कविताएँ अक्सर लौटा देते थे। वे ही मेरे नाम के आगे पीछे सींग-पूँछ—प्रोफेसर, एम० ए० (दर्शन) एम० ए० (अंग्रेजी) 'साहित्यरत्न' आदि से आतंकित होकर छाप देने लगे। विशेषतः हिन्दी के बहुत से सम्पादकों के पास डिग्री नहीं है, बहुत से डिग्री की पूर्ति अजीबो-गरीब तखल्लुस से कर लेते हैं अतः उन्हें 'डिग्री काम्प्लेक्स' हैं। मेरी कई रचनाएँ—आरंभिक सन् २६-३० की लिखी हुई—अब परिशोधनोपरान्त उत्तम-से-उत्तम पत्र में छप जाती हैं। शायद नाम का असर हमारे सम्पादकजनों पर विशेष होता है, लेखन का कम। नए लेखकों के हक में यह बात बहुत बुरी है।"

"इसका अर्थ तो यह हुआ नि नया लेखक जीवित ही नहीं रह सकता ?" मैंने कहा।

"मैं नयों की बात क्या कहूँ" वे बोले, "स्वयं अपनी बात लेता हूँ। केवल लेखक बनकर हिन्दी में जीवित रहना एक समस्या है। मैं जो लिखना चाहता हूँ, लिख नहीं सकता। समय

ही नहीं मिलता। मानसिक स्वास्थ्य का सर्वथा अभाव है। और हिन्दी में जैसा मैं चाहता हूँ, केवल वैसा लिखने पर मैं उतना कमा नहीं सकता, जितना जीने के लिए जरूरी है। इसके लिए तो सम्पादकों तथा प्रकाशकों का 'फरमाइशी' लिखिए।

हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं के (यानी संपादकों के) अनुभव मैंने 'ऊषा' (बिहार) साप्ताहिक के 'पत्रकार-अङ्क' में लिखे थे, जिनसे काफी हलचल मची थी। प्रकाशकों के अनुभव यों हैं। पहले तो मैं प्रकाशन से डरता और बचता था। सन् १६४३ या ४४ में श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी और 'अंचल' जी ने विशेष रूप से मेरे साहित्य-समालोचनात्मक लेख संग्रह करके सम्मेलन से छपाने के लिए मँगाये। 'साहित्य-दर्शन' नाम से मैंने ३०० पेज के कटिंग्स का एक संग्रह भेजा। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयीजी कहते हैं कि उन्होंने वह संग्रह दारागंज के एक प्रकाशक भगवानदास अवस्थी को छापने के लिए दिया। वे प्रकाशक कहते हैं कि उन्हें नहीं दिया। बहरहाल, वह लेख इसी बीच में खो गए। अब वे कतरनें फिर से खोजीं और इकट्ठी नहीं की जा सकतीं। फिर कितने ही प्रकाशकों ने ६ महीने से लगाकर ४-४ साल तक मेरे लेख, कविता, कहानी-संग्रह मँगा-मँगाकर अटकाए रखे। पहले प्रकाशित करने के लिए स्वीकृति दी और फिर बुरी हालत में लौटा दिए। वे सर्वोपकारी प्रकाशकगण हैं—

१. युग-मन्दिर, उन्नाव; २. प्रदीप प्रकाशन, मुरादाबाद; ३. नालंदा प्रकाशन, बम्बई; ४. एन. आई. पी., बम्बई; ५. कामना प्रकाशन, कोटा; ६. शिवाजी प्रकाशन-मन्दिर, लखनऊ; ७. मान-सरोवर प्रकाशन, ग्वालियर तथा ८. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी आदि।

शायद दो-चार और नाम होंगे, मैं भूल रहा हूँ। मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इन सभी बड़े-बड़े प्रकाशकों के प्रकाशन के स्टैंडर्ड (?)-जैसा लिखने की योग्यता मुझमें अभी नहीं आई है।

परिणामतः गतिरोध। एक हजार पृष्ठ के आलोचनात्मक लेख, एक हजार पृष्ठ की कहानियाँ, पाँचसौ पृष्ठ की कविताएँ, पाँच सौ पृष्ठ के एकांकी आदि का पुस्तकाकार छपने से वंचित रहना, और मेरा लिखने के प्रति औदासीन्य बढ़ना। मान लीजिए, मैंने जो कुछ छपाया है उसका आधा कूड़ा भी है तो भी आधा पुस्तक रूप में नहीं आया, उसका क्या? मुक्ति का उपाय पूछते हो? लेखकों को प्रकाशक बनाना चाहिए। उसके लिए पूँजी चाहिए, और वह सहकारिता से जमाई जाय। मैं 'बिजिनेस' नहीं जानता—पर गुप्तबन्धु, महादेवी, यशपाल, अश्क, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि लेखक-प्रकाशक घाटे में नहीं है ऐसा मुझे लगता है। सुना है राहुलजी भी स्वयं लेखक-प्रकाशक अब बनने जा रहे हैं।"

"क्या आप वर्तमान बड़े और समवयस्क साहित्यिकों, लेखकों तथा कवियों पर अपने विचार बता सकेंगे। यदि हो सके तो विभिन्न वादों को लेकर विशेषकर प्रयोगवाद-प्रगतिवाद पर भी कुछ कहें।" मैंने प्रसंग बदलने के लिए अगला प्रश्न किया।

उनका उत्तर था, "इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं दूँगा। क्योंकि सही बात कहूँगा तो कई गुरुजनों और आदरणीयों के दोष भी गिनाने पड़ेंगे। हिन्दी में साहित्यिक इतनी स्पष्ट और खुली आलोचना सुनने के आदी नहीं। वे उदार-हृदय नहीं। वैसे ही कई लोग नाराज हैं, औरों को क्यों नाराज करूँ? समवयस्कों के बारे में अभी क्या निर्णय देना? 'वादों' की चर्चा यहाँ इण्टरव्यू में क्या? वह तो एक पुस्तक बन जायगी। मैंने कई लेखों में यह सब कहा है। दुहराना व्यर्थ है।"

इसके बाद हिन्दी-साहित्य के अभाव और उसके भविष्य की बात चली तो उन्होंने कहा—"हिन्दी-साहित्य का भविष्य उज्जवल है पर अभी बड़ा काम करना है। सबसे बड़ी आवश्यकता गम्भीर गद्य-

ग्रन्थों की है। कोष-साहित्य, यात्रा-साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य, बाल-साहित्य, महिलोपयोगी साहित्य, निबन्ध-आलोचना, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, ऐतिहासिक गवेषणा, कला-सिद्धान्त और व्यावहारिक पक्ष, संदर्भ-ग्रन्थ, पत्र-साहित्य, जीवनी-संस्मरण आदि विषयों पर हिन्दी-साहित्य न कुछ के बराबर है। एक शब्द-सागर को छोड़कर हिन्दी में वैसा प्रामाणिक कोष नहीं। देश और विदेश की भाषाओं के कोष भी हिन्दी में होने चाहिएँ। और तो और, संस्कृत तक का कोई कोष हिन्दी में नहीं। भाषा सीखने-सिखाने वाले कोषों के अतिरिक्त विशेष दृष्टि से लिखे कोष भी होने चाहिएँ। जैसे मराठी में चार प्रकार के कोष हैं—एक व्युत्पत्ति-कोष (जिसमें प्रत्येक शब्द का मूलाधार बताया है), दूसरा प्राचीन चरित्र-कोष (इसमें सब पौराणिक, ऐतिहासिक नामों की संक्षिप्त कथाएँ और संदर्भ दिये हैं), तीसरा व्यायाम-कोष (इसमें सब प्रकार के व्यायाम और शारीरिक शिक्षण-सम्बन्धी बातों की चर्चा है) और चौथा मानस-शास्त्र-परिभाषा-कोष (इसमें मनोविज्ञान-सम्बन्धी शब्दों की सव्याख्या विवेचना है) ऐसे ही विषयवार अन्य कोष भी हो सकते हैं। हिन्दी-विश्व-कोष तथा व्यापारियों, डॉक्टरों, विद्यार्थियों, इंजीनियरों के उपयोग के संदर्भ-ग्रन्थ भी बन सकते हैं। यात्रा-साहित्य, पत्र-साहित्य और जीवनियाँ भी हिन्दी में कम हैं। यात्रा-साहित्य में राहुल जी, डॉक्टर सत्यनारायण, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि कुछ व्यक्तियों की ही पुस्तकें हैं। पत्र-साहित्य तो कुछ भी नहीं है। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी और पण्डित ब्रजमोहन व्यास के पास अनेक साहित्यिकों के हजारों पत्र हैं पर न जाने क्यों उन्हें वे छिपाये बैठे हैं। जीवनियों में नेताओं की छोटी-मोटी जीवनियों को छोड़कर प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं हैं। साहित्यकारों के विषय में तो एक भी पुस्तक नहीं है। विदेशी साहित्यकारों में लिटनस्ट्रैची, चेस्टरटन, फ्रैंक हैरिस, आन्द्रे, मोवा

एमिल लुडविग, राल्फ फाक्स, ए० जी० गार्डनर आदि ने सुन्दर जीवनियाँ, संस्मरण, रेखा-चित्र लिखे हैं, लेकिन हिन्दी में वैसी एक भी कृति नहीं है। इतिहासकारों में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, काशीप्रसाद जायसवाल, जयचन्द्र विद्यालंकार, राजकुमार रघुवीरसिंह आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं, परन्तु वैज्ञानिक साहित्य तो शून्य है 'विज्ञान', 'भूगोल' और 'उद्यम' को छोड़कर एक भी पत्र नहीं है। जो उच्चकोटि की वैज्ञानिक सामग्री से युक्त हो। गणित, ज्योतिष, या पक्षी-विज्ञान पर एक-दो पुस्तकों से क्या होता है? आहार-शास्त्र, समाज-विज्ञान, यंत्र-शास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र, आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र, सम्पादन-कला, घड़ी-साजी, रँगाई, छपाई, और चर्म-कला आदि-जैसे व्यावहारिक विज्ञानों पर उच्चकोटि की पुस्तकों के बिना हिन्दी समृद्ध नहीं हो सकेगी। इसके लिए पारिभाषिक शब्दावली की समस्या है। डॉक्टर रघुवीर की धात्वनुगामी पद्धति से पारिभाषिक शब्दावली बनाने से काम नहीं चल सकता। इसके लिए सब भाषाओं के विद्वानों के सहयोग से सर्वसम्मत पारिभाषिक शब्दावली बनानी चाहिए। बालोपयोगी और महिलोपयोगी साहित्य भी हिन्दी में अपर्याप्त है! बालोपयोगी साहित्य मनोविज्ञान के आधार पर वय के अनुकूल लिखा जाना चाहिए। महिलाओं का साहित्य महिलाओं द्वारा लिखा जाय तो अच्छा है। आचार्य द्विवेदी जी और शुक्लजी के बाद निबन्ध-क्षेत्र शून्य है। नृत्य, शिल्प, स्थापत्य, चित्र-कला आदि पर भी पुस्तकों की आवश्यकता है। साधिकार ग्रन्थ-लेखन से हिन्दी-साहित्य के अभावों की पूर्ति हो सकती है। जहाँ तक ललित-साहित्य—काव्य, नाटक, कहानी उपन्यास आलोचना आदि—का सम्बन्ध है, प्रगति संतोषजनक है। यद्यपि वहाँ भी गुण से अधिक संख्या पर जोर अधिक है। एक बात और है। हिन्दी को अन्य प्रान्तीय भाषाओं से बहुत-कुछ सीखना होगा

और सब भाषाओं से पर्याप्त अनुवाद करने होंगे । तभी हिन्दी का भंडार पूर्ण होगा।"

बातचीत की गंभीरता से हटकर मैंने उनसे एक व्यक्तिगत प्रश्न उनकी दिनचर्या, हॉबी, वेश-भूषा, खान-पान के सम्बन्ध में किया जिसके उत्तर में उन्होंने कहा—"यह सब क्या मेरे बताने की बातें हैं ? आप मेरे साथ रहिए, देख लीजिए ! आजकल की दिनचर्या यों है। देर से उठता हूँ यानी छः-साढ़े-छः बजे । एक कप चाय पीकर मैं घर का कोई काम-काज, बाजार-सौदा, राशन खरीदना, या बच्चों के लिए दवा-दारू लाना हो तो वह लेने जाता हूँ । नहा-धोकर ८॥ बजे खा लेता हूँ । नौ बजे बस की 'क्यू' में जाकर खड़ा हो जाता हूँ। दिल्ली में बसों की बहुत देर तक इन्तजार करनी पड़ती है। खास तौर से दफ्तरों से दूर रहने वाले हम-जैसे लोगों को। १० बजे दफ्तर पहुँचा कि साढ़े-पाँच या छः तक वहाँ से छुट्टी मिलती है। फिर एक घण्टा बस-क्यू-प्रतीक्षा। ७-७॥ बजे घर पहुँचता हूँ और फिर खाना खाता हूँ। इलाहाबाद में तो शाम को भी अपने काम पर जाना पड़ता था। अपने बच्चों के साथ खेलता हूँ। कुछ पढ़ता हूँ तो रात-रात जागता रहता हूँ। लिखना इधर मैंने बिलकुल बन्द कर दिया है। जब कोई बहुत दबाव मुझ पर आता है तो खाना खाने के बाद अपनी पुरानी ही रचनाओं को कुछ सुधारकर पेश कर देता हूँ। देखता हूँ कि लोग उन्हें नया समझकर कितना खुश होते हैं। वैसे सरकारी नौकरों पर साहित्य-सेवा करने यानी अखबारों में लिखने, प्रकाशन और भाषण तक की पाबन्दी है। और नौकरी करते हुए इन्हीं नियमों का पालन करना प्रभाकर सीख रहे हैं। छद्मनाम लेकर कई सरकारी नौकर लिखते रहते हैं। उन्हें छद्मनाम से लिखना अच्छा नहीं लगता। इसलिए मैंने तो— अकबर इलाहाबादी का मोटो सामने रखा है—'कर किलर्की खा डबल रोटी, खुशी

से फूल जा !' और 'बात कुछ ऐसी ही है कि मैं चुप हूँ, वर्ना क्या बात कर नहीं आती।',

हॉबी मुझे चित्र-कला की है। खाना, पकाना, चमड़े का कार्य करना, मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना, वुडकट, लिनोकट आदि से प्रेम है। और कविता करना भी अब हॉबी में ही शुमार करता हूँ। भाषा-विज्ञान, समाज-विज्ञान, साहित्य, दर्शन की पुस्तकें पढ़ने में आनन्द आता है। पर इतने पैसे नहीं कि नई किताबें खरीद कर पढ़ सकूं। यहाँ कोई लाइब्रेरियाँ भी निकट नहीं। अतः वह स्रोत पठन का भी सूखता जा रहा है और जब अनुभव विशाल नहीं होगा तो जाहिर है कि लिखना कैसे विशाल हो सकता है ?

वेश-भूषा के मामले में मैंने कोई नियम नहीं बनाये हैं। विद्यार्थी-काल से खद्दर बराबर पहनता आया हूँ। सन् '४० से बिलकुल दूसरा कुछ नहीं पहना। वही सादा पहनावा अच्छा लगता है। मुझे बहुत फैशनेबल और भड़कीले कपड़े पसन्द नहीं हैं। खाने में बचपन से मैं शाकाहारी था। दो-तीन वर्षों से कभी मांसाहार भी करना पड़े तो उससे घबराता नहीं ! खाने के लिए जो मिले ग्राह्य है। उसमें 'अमुक चाहिए और अमुक नहीं' का फिजूल आग्रह मेरा नहीं। संक्षेप में खान-पान, वेश-भूषा सभी बातों में मैं 'फैडिस्ट' नहीं हूँ ! श्रीमती माचवे को श्रेय है कि जो वे कपड़े बना देती हैं, पहन लेता हूँ, जो पका देती हैं, खा लेता हूँ। और दोनों बहुत बुरे नहीं होते, इसका मैं आश्वासन देता हूँ। मोटा-झोटा खाना और पहनना तथा देहाती की तरह रहना मैं पसन्द करता हूँ।"

अन्त मैंने पूछा—"यदि आपको पूरी सुविधा मिले तो भविष्य में आप क्या करेंगे ?

खीझ और निराशा से परिपूर्ण स्वर में वे बोले, "अभी

कोई निश्चय नहीं किया है। शेखचिल्ली मैं नहीं हूँ। मुझे पता है कि निम्नमध्यवर्गीय मैं आदमी हूँ। मजदूरी करके जीना है। पूरी सुविधा आज के पूँजीशाही (जिसने लोकशाही का मुखौटा पहन रखा है) समाज-व्यवस्था में तो मिलती नहीं। सो क्या करना है यह अपने हाथ की बात नहीं।"

श्री माचवे का विद्यार्थी-जीवन बड़ा शानदार रहा है। वे सामान्य स्थिति के विद्यार्थी की भाँति कठिनाई में पढ़े हैं। पर किसी भी विषय का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करने में वे पीछे नहीं रहे। ट्यूशनें और साइन बोर्ड बनाने तक का काम उन्होंने किया है। दर्शन का एम० ए० हो, चाहे अंग्रेजी का और चाहे साहित्यरत्न हो, सबमें वे सम्मान उत्तीर्ण हुए हैं। चित्रकारी का भी उन्होंने विधिवत् अध्ययन किया है। वे तर्क-शास्त्र और मनोविज्ञान के अध्यापक रहे हैं और उन्होंने मशीन की भाँति लिखा है। हिन्दी, अंग्रेजी के वे अच्छे ज्ञाता हैं और मराठी तो उनकी मातृ-भाषा ही है। बंगला और गुजराती भी वे जानते हैं। यों उत्तर भारत की सभी प्रमुख प्रांतीय भाषाओं और बोलियों से उनका परिचय है। मराठी और हिन्दी में तो वे प्रतिष्ठा-प्राप्त लेखक हैं। साथ ही उन्हें विद्यार्थी, हरिजन, अशिक्षित मजदूर और किसानों का भी क्रियात्मक अनुभव है क्योंकि वे उनके बीच रह-कर कार्य कर चुके हैं। ऐसा मेधावी लेखक आज रेडियो में पड़ा है, यह हिन्दी का दुर्भाग्य है। हर विषय पर जीवित विश्व-कोश की भाँति बात करने वाले इस साहित्यिक का उपयोग किसी अनुसन्धान-कार्य में रत संस्था में हो सकता है, जहाँ वह अपने विस्तृत दृष्टिकोण के फलस्वरूप हिन्दी को कुछ दे सके।

जून १९५२]

श्री विष्णु प्रभाकर

जब मैं भाई श्री विष्णु प्रभाकर से मिला, तो मेरा पहला प्रश्न था—"आपके नाम के साथ लगे 'प्रभाकर' शब्द का क्या अर्थ है? यह परीक्षा है या आपका कोई गोत्र है?"

उन्होंने कहा— "आपने बड़े रोचक प्रश्न से शुरुआत की है कमलेश भाई! मैं स्वयं इस पर एक प्रहसन लिखने वाला हूँ पर आपको इसका इतिहास बता दूँ। बात यह हुई कि माता-पिता ने मेरा नाम केवल 'विष्णु' रखा था। बड़े भाई ब्रह्मा थे। छोटा हुआ तो महेश बना। त्रिमूर्ति घर में आ गई पर आगे चलकर प्राइमरी स्कूल के मास्टर साहब ने 'विष्णु' के आगे 'दयाल' जोड़ दिया। और जब मैं अपने मामा के पास पंजाब चला गया, तो वहाँ मेरा नाम विष्णु गुप्त हो गया। मामाजी आर्यसमाजी थे इसलिए उन्होंने मेरा यह नाम रख दिया। 'गुप्त' मेरे वर्ण का द्योतक है। सो दसवें दर्जे तक मैं विष्णु गुप्त रहा। लेकिन जब परिस्थितिवश मुझे हिसार की सरकारी गोशाला में नौकरी करनी पड़ी तब दफ़्तर में एक और 'गुप्त' होने के कारण गड़बड़ होगी, इस आशंका से 'विष्णु गुप्त' से मैं 'विष्णुदत्त' बन गया! यह सब अनायास ही होता चला गया। मैंने कभी किसी नाम को पसन्द नहीं किया। किसी ने पूछा ही नहीं इसलिए जब मैंने 'प्रभाकर'

परीक्षा पास की तो निश्चय किया कि अब 'प्रभाकर' को अपने नाम का अंश बना लूँगा। उस समय से मेरा सरकारी नाम तो विष्णुदत्त रहा पर वैसे मैं 'विष्णु प्रभाकर' हो गया। अब मैं इसे अपने गोत्र की भाँति लिखता हूँ। इस सम्बन्ध में एक और बड़ी मजेदार बात है। कई लोग कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', प्रभाकर माचवे और विष्णु प्रभाकर को एक ही व्यक्ति मान लेते हैं। विशेषकर प्रभाकर माचवे और मुझे अक्सर एक माना जाता है। एक बार श्री प्रभाकर माचवे के पास एक पत्र पहुँचा, जिस पर पता लिखा था—'श्री विष्णु प्रभाकर माचवे, उज्जैन।' मेरे पास तो अब तक भी ऐसे पत्र आते हैं। इस 'प्रभाकर' के कारण कुछ लोग मुझे महाराष्ट्रीय समझते हैं। इसी कारण गांधी-हत्या-काण्ड के सिलसिले में मुझ पर कई दिन तक खुफिया पुलिस की निगरानी रही। उस षड्यंत्र का सम्बन्ध महाराष्ट्र से माना जाता था और मैं 'प्रभाकर' नाम के कारण अधिकारियों की शंका का शिकार बन गया। इससे पूर्व भी पंजाब में सरकारी नौकर होते हुए भी मैं कई बार क्रान्तिकारी होने की शंका में वहाँ की पुलिस की कोप-दृष्टि का शिकार बना हूँ। सो यह है मेरे नाम की रोमांचक कहानी!"

दुबले-पतले, तेजस्वी व्यक्तित्व रखने वाले इस साधक का जीवन अवश्य रहस्यमय है, यह मुझे उनके इतने से कथन से मालूम हो गया। मैंने यह भी सोचा कि यह जो मानव जीवन की गहराइयों में उतरने का प्रयत्न करता हुआ कथा और नाटक-साहित्य की गति को प्राण दे रहा है, तो इसीलिए कि उसके जीवन में भी अद्भुत गांभीर्य है। मेरी जिज्ञासा उनकी बातचीत की कला से और बढ़ गई और मैंने पूछा—"आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके कलाकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई?"

वे बोले—"सच कहूँ, नहीं जानता कि मैं कलाकार हूँ या नहीं ? पर हाँ, यह मानूँगा कि मेरे बचपन ने ही मुझे 'वह कुछ' बनाया है जो मैं आज हूँ। ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था तक गाँव में रहा। हमारा परिवार सम्पन्न और सम्मिलित था। पिता जी सवेरे ३ बजे से १० बजे तक पूजा-पाठ करते थे। तमाखू की दुकान थी। शुरू में उन्होंने बही-खाते की भाषा पढ़ी थी, पर जब उनका विवाह हुआ तो उन्हें पता लगा कि मेरी माँ हिन्दी-उर्दू जानती हैं। पिताजी उसी दिन पण्डित के पास पहुँचे और सात दिन में हिन्दी सीखकर ही दम लिया। फिर तो उनकी दुकान में तमाखू से भरे टोकरों के साथ एक टोकरा किताबों से भी भरा रहता था। उसी टोकरे के पास बैठकर मैंने ज्ञान की प्यास बुझाई। उन्हींके सम्पर्क से नौ-दस वर्ष की अवस्था में मैंने विष्णु की पूजा आरम्भ की। मुझे रोज दो पैसे मिलते थे। उनमें से एक मूर्ति पर चढ़ाता था। पढ़ने में इतना तेज था कि मास्टर साहब को मैं गणित बताता था। एक बार मेरे एक साथी के पिता जी ने, जो ज्योतिषी थे, मुझे बताया कि इस बार तुम फेल हो जाओगे। पास होने के लिए तुम्हें देवी की पूजा करनी चाहिए। उनकी आज्ञानुसार मैं देवी पर जलेबी चढ़ाने लगा। मैंने देखा कि उन जलेबियों को पुजारी का लड़का खा जाता है। मुझे बड़ा अजीब सा लगा। एक दिन साहस करके मैंने भी देवी पर चढ़ा हुआ पेड़ा खा लिया। डर तो लगा, पर क्लास में मैं फर्स्ट आया। तभी से मुझे मूर्ति-पूजा से अरुचि होने लगी। मामाजी के आर्यसमाजी होने ने इस विषय में मेरी और सहायता की। परिणाम यह हुआ कि मैं बारह वर्ष की अवस्था तक पक्का आर्यसमाजी बन गया।

बचपन की दो और घटनाओं की याद मुझे नहीं भूलती। १६१६ के वे दिन मुझे खूब याद हैं जब मेरा बालक मन सदा

ख़िलाफत और कांग्रेस के नारों में रगा रहता था। कांग्रेस की एक सभा में एक पाँच वर्ष के वालक को खद्दर पहने और व्याख्यान देते देखकर मेरे चाचा ने मुझे प्रेम भरा उलहना दिया था। वही उलहना मेरे जीवन का मंत्र बन गया। उसी दिन से मैंने खद्दर को प्यार करना सीखा। स्वतंत्रता के बाद अनेक मित्रों ने खद्दर छोड़ दिया, पर मेरे लिए तो वह मेरे स्वर्गीय चाचा का आदेश है, राजनीति का शास्त्र नहीं। सरकारी नौकर रहते हुए भी मेरा मन और मेरी कलम सदा आजादी के दीवानों के साथ रहे।

दूसरी घटना कोई एक घटना नहीं है। मेरा गाँव कभी मुसलमानों की अमलदारी में था। मुगल काल के 'किंग मेकर' मेरे गाँव से पाँच मील दूर के थे। उनके साथ एक हिन्दू सरदार भी था। इसी कारण मेरे गाँव में दो संस्कृतियों का अच्छा संगम था। मुसलमान रामायण पढ़ते थे, होली खेलते थे। हिन्दू पीर को मानते थे और ईद के दिन अपनी गाय-भैंसों का दूध मुसलमानों को देते थे। मुझे याद है, जब मैं मुस्लिम मित्रों के घर जाता था तो उनकी माँ-बहनें मुझे बाजार से मँगवाकर मिठाई खिलातीं और स्वयं कभी न छूतीं। मेरे बालक मन पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा—'आखिर ये छू दें तो क्या हो जायगा।' चमार या भंगी से छू जाने पर नहाने की बात मुझे बड़ा तंग करती थी पर साथ ही मैं देखता था कि मेरे दादा दिवाली के दिन सबसे पहले भंगियों के घर जाकर मिठाई बाँटते हैं। इन बातों ने मुझमें जिज्ञासा पैदा की।

इसके अलावा पुलिस का नग्न रूप भी वहीं देखा। वहीं डाके पड़ते देखे। छूत-छात, हुक्का-पानी और पण्डितजी तथा मौलवी साहब की खाल उतार लेने वाली बेंतें, इन सभी ने मिलकर मेरे जीवन और साहित्य का निर्माण किया है। डायनों और भूत-प्रेतों की न जाने कितनी कथाएँ सुनीं एक पगली और एक

डायन की दर्दभरी कहानी आज भी याद करता हूँ तो ऐसा लगता है जैसे पुनर्जन्म की याद आती हो। अब तो युग ही पलट गया है। बचपन में जो देखा-भुगता उस पर कभी-कभी तो स्वयं ही विश्वास नहीं आता।"

इतना कहकर वे कुछ झिझके, जैसे आगे जो कुछ कहने जा रहे हों उसे वे कहना न चाहते हों। परन्तु फिर कुछ संकोच के साथ संतुलित वाणी में उन्होंने कहा—"इसके साथ एक और बात है, जिसने बचपन से लेकर आज तक मुझे विचित्र स्थिति में रखा है। वह यह है कि ११-१२ साल की उम्र तक तो बड़े लाड-प्यार में पला, परन्तु जब मामाजी के पास चला गया तब माँ और परिवार का स्नेह छिन गया। ७-८ साल तक अलग ही रहा। मेरे भावुक हृदय ने उस अभाव को कुछ अधिक अनुभव किया। यों बात कुछ ही दिनों की थी पर उसका प्रभाव गहरा पड़ा। आज उस स्थिति को समझाया नहीं जा सकता। पर उसने मुझे अन्तर्मुखी, अभाव के परखने वाला तथा एकान्त-प्रिय बना दिया। ऊपर से शान्त रहता था और धीरे-धीरे पढ़ाई में भी आगे बढ़ रहा था पर तब सामाजिकता जो छूटी वह आज तक नहीं लौटी। बहुत छोटी अवस्था में संघर्ष का अनुभव होने के कारण परिपक्वावस्था शीघ्र आ गई थी। कभी-कभी डायरी लिखा करता था (अब तो बराबर लिखता हूँ) स्कूल की आर्य सभा में व्याख्यान भी देता था। मेरी प्रत्येक गतिविधि में मामाजी की प्रेरणा रहती थी। वे मेरी भावनाओं का खयाल रखते थे। पर वे माँ नहीं बन सकते थे, कोई नहीं बन सकता। सो इस प्रकार मेरे बाल्य-संस्कारों के निर्माण में एक ओर आर्य समाज का (यद्यपि आज तो वह मुझसे बहुत दूर हो गया है) ऋण है तो दूसरी ओर इस अभाव का। इसीलिए मेरे प्रारम्भिक साहित्य में सर्वत्र एक मौन व्यथा व्याप्त है। व्यथा

इसलिए भी है कि अक्सर वह कुछ करना पड़ा जो मैं नहीं चाहता था। साथ देश सेवा की थी, पर करनी पड़ी सरकारी नौकरी।"

"लेकिन आपका साहित्य-सृजन कब और कैसे आरम्भ हुआ और उसके लिए आपको प्रेरणा कहाँ से मिली ?" मैंने समझते हुए भी कुछ और जानने की जिज्ञासा से आगे प्रश्न किया।

उन्होंने बताया—"प्रेरणा की बात तो काफी बता चुका हूँ फिर भी एक और घटना याद है। स्कूल में 'बाल-सखा' आया करता था। उसमें बच्चों के पत्र भी छपते थे। पढ़ने का शौक होने के कारण मैं उन्हें पढ़ा करता था। एक दिन मैंने सोचा कि क्यों न मैं भी एक पत्र लिखकर 'बाल-सखा' में छपने के लिए भेजूँ। मैंने भेजा और वह छप गया। उस दिन ऐसी प्रसन्नता हुई थी जैसी कि शायद किसी को 'नोबेल प्राइज' मिलने पर ही हो सकती है। आगे चलकर जब आर्य समाज की सभाओं में व्याख्यान देने लगा तो उन्हें भी लिखकर छपने भेजने लगा। वे छपे। शुरू में कविता का शौक था। गद्य-काव्य भी लिखे, जिनमें से कुछ 'हंस' आदि पत्रों में छपे थे। जहाँ तक कहानी का सम्बन्ध है, पहली कहानी सन् १९३१ के अन्त में लिखी गई। प्रारंभिक कहानियाँ आर्य समाज के सुधारवाद से प्रभावित थीं। उन दिनों बड़े भाई भी लिखते थे। वे मेरी भाषा की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। पर उन दिनों बहुत कम लिख पाता था। बारह घंटे दफ्तर में बिताना, किसी-न-किसी परीक्षा की तैयारी करना, नगर के सामाजिक कामों में भाग लेना, नाटक-कम्पनी में मंत्री से लेकर एक्टर तक का काम करना। उसके बाद समय बचता ही कहाँ था ?

हाँ सन् '३४ में मेरा सम्पर्क श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार से

हुआ। वे 'अलंकार' के सम्पादक थे। मैंने उन्हें चार कहानियाँ भेजीं, जिनमें से दो कहानियाँ उन्होंने 'अलंकार' में छापी थीं। फिर वह पत्र बन्द हो गया। उन्हीं में से एक कहानी 'स्नेह' थी, जो आज भी मेरी सुन्दर कहानियों में से एक है। चन्द्रगुप्त जी ने मेरी कहानियों की प्रशंसा की, पर साथ ही उनमें मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का सुझाव दिया। इस सुझाव ने काफी बल दिया। प्रोत्साहन मुझे 'आर्यमित्र' सम्पादक पं० हरिशंकर शर्मा से भी मिला। 'प्रेमबन्धु' के नाम से मैंने 'आर्यमित्र' में कितने ही लेख लिखे थे। इन दोनों के प्रति मेरे मन में स्नेह और आदर है।

सन्' ३६ में मैंने 'संघर्ष के बाद' शीर्षक कहानी लिखी, जो पहले भेजी तो 'माधुरी' को गई, पर छपी बाद को 'हंस' में। जिस दिन इसकी स्वीकृति आई उस दिन मेरा जन्म-दिन था। वास्तव में मेरा साहित्यिक जीवन उसी दिन आरम्भ हुआ। इस बात को आज सोलह वर्ष बीत गए हैं। मुझे आगे लाने और बढ़ाने में मेरे बड़े भाई का बहुत हाथ है। यह उन्हीं की प्रेरणा का फल है कि आज मैं स्वतन्त्र साहित्यिक का जीवन बिता रहा हूँ। मेरे जीवन में एक और महत्त्वपूर्ण बात रही है। मैंने आज तक किसी भी कारण से हो किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। इस स्वाभिमान की रक्षा का श्रेय किसी को हो पर इसने मुझे बल दिया है। अभिमानी का नहीं अकिंचन का बल। जहाँ तक पत्रों का सम्बन्ध है, मुझे आगे लाने में 'हंस' का बहुत बड़ा हाथ है। उन दिनों की स्मृति मेरे लिए आज भी प्रेरणादायक है। आलोचकों में बाबू गुलाबराय ही ऐसे हैं, जिन्होंने मुझे अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित किया।

एक और बात है जिसने मुझे प्रेरणा दी है। न चाहकर भी मैं पूरे पन्द्रह वर्ष तक सरकारी गो-शाला में कर्मचारी रहा। मैंने

दफ्तरी के कार्य से अपना जीवन आरम्भ किया। क्लर्क तो मैं बाद में हुआ। इस विवशता ने जहाँ विकास को रोका वहाँ विद्रोह का बल भी दिया। वहाँ धर्म और जाति के नाम पर जो कुछ देखा, मानव-चरित्र की जिन निचाइयों और गिरावटों का अनुभव किया वे मेरे साहित्य की शक्ति हैं। हिन्दू-मुस्लिम, सिख-हिन्दू, जाट-बनिया, बनिया-ब्राह्मण और पंजाबी-हिन्दुस्तानी के नाम पर हैवानियत को जिस नंगे रूप में देखा उसने मुझे अनायास ही मानवता का पुजारी बना दिया। ये सब व्यक्तिगत अनुभव की बातें हैं। मेरे उपन्यास 'ढलती रात' में इन बातों की कुछ झलक मौजूद है। ऊपर से यह सब राजनीतिक वक्तव्य ऐसा लगता है, पर कुछ भी हो मेरी प्रेरणा का स्रोत यहीं पर है।"

इतने में हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक और विष्णुजी के अभिन्न मित्र श्री रामचन्द्र तिवारी आ गए। वे रेडियो के लिए फीचर लिख रहे थे और कुतुबमीनार की सीढ़ियों की सही संख्या मालूम करने आए थे। रविवार का दिन था। विष्णु जी के बड़े भाई भी वहीं आ गए और वन-महोत्सव से बात शुरू होते-होते गंभीर राजनीति तक पहुँच गई। उस समय विष्णुजी के बड़े भाई राजनीति, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र का बौद्धिक विवेचन जिस योग्यता से कर रहे थे उसे देखकर मन-ही-मन मैं दंग हो रहा था। मुझे अनुभव हुआ कि अभी-अभी विष्णुजी ने अपने निर्माण में जिस व्यक्ति का उल्लेख किया था वह निस्संदेह एक बड़े 'इण्टलैक्च्युअल' हैं। वे विष्णुजी के लिए नवीन दृष्टिकोण देने वाले ही नहीं, उनके लिए संदर्भ-ग्रंथ भी हैं और पुस्तकों के इतने शौकीन हैं कि स्वयं नई पुस्तकें वे खरीदकर लाते ही रहते हैं। यही कारण है कि विष्णु जी के पास ऐसी अच्छी लायब्रेरी है, जैसी हिन्दी के बहुत

कम लेखकों के पास होगी।

इसी बीच मुझे विष्णुजी के स्वभाव का अभी परिचय मिला। मैं उनका इण्टरव्यू ले रहा था और श्री तिवारी जी बीच में ही आ गए थे। आते ही जो बातें चलीं, तो एक घण्टा बीत गया। दूसरा कोई होता तो सारी स्थिति से परिचित कराता और तिवारीजी संभवतः बहस में न पड़ते। परन्तु विष्णुजी ने आभास तक नहीं होने दिया कि वे कोई जरूरी काम कर रहे हैं। इतने अच्छे और साहित्य से जीविकोपार्जन करने वाले लेखक में यह संकोच और दूसरों का खयाल रखने की वृत्ति देखकर मुझे आश्चर्य भी हुआ और उनके प्रति आदर का भाव भी मेरे मन में जागा।

जब तिवारीजी चले गए तब मैंने फिर अपनी पेंसिल उठाई और प्रश्न किया— "वे देशी-विदेशी लेखक कौन से हैं, जिनको आप विशेष पसन्द करते हैं और जिनका आपके जीवन में अपरिहार्य स्थान है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "इस प्रश्न का उत्तर शायद सही न दे सकूँ; क्योंकि मैं नहीं मानता मेरे जीवन में किसी का अपरिहार्य स्थान है, पर फिर भी बंगला के कलाकारों में से बंकिम, शरत्, और टैगोर को मैंने कुछ पढ़ा है। इन तीनों में यदि किसी से प्रभावित हूँ तो शरत् से। उनकी करुणा मेरे जीवन-व्यापी विषाद से बहुत मेल खाती है। सन् १९३८ में एक बार मेरे बारे में किसी ने लिखा था कि 'विष्णुजी की कहानी पढ़ते हुए शरत् की याद आती है।' प्रेमचन्द भी मुझे प्रिय रहे हैं। वैसे मुझे याद है कि मैं उन दिनों 'अज्ञेय' को विशेष प्रेम करता था। जैनेन्द्र की आध्यात्मिकता भी मेरे मन के बहुत पास थी। उनका कई प्रकार से आभारी हूँ। सन् ३८-३९ में लोग 'विष्णु' और 'जैनेन्द्र' को एक समझने लगे थे। 'अश्क' और 'अज्ञेय' तक

मुझे 'छोटा जैनेन्द्र' या 'अपरिपक्व जैनेन्द्र' कहते थे। यह आश्चर्यजनक बात है। पर 'फोटोग्राफर' आदि मेरी कुछ कहानियाँ जैनेन्द्रजी की कला से बहुत मिलती-जुलती हैं। यों, कहाँ वे और कहाँ मैं। सब संयोग की बात है।

रूसी कलाकारों में टाल्सटाय, चेखव और गोर्की मुझे प्रिय हैं। टाल्सटाय मेरे स्वभाव के विशेष अनुकूल पड़ते हैं। चेखव से प्रभावित तो हूँ, पर उनमें वह श्रद्धा नहीं, जो टाल्सटाय में है। उनसे अधिक श्रद्धा है गोर्की में। वे मुझे बहुत प्रिय हैं। फ्रांसीसी कलाकारों में मोपासाँ, विक्टर ह्यूगो और अनातोले फ्रांस को अधिक पढ़ा है। मोपासाँ शब्दों का मास्टर है। अंग्रेजी-लेखकों में बायरन, कीट्स, एमर्सन, ह्विटमेन, ओ हेनरी, ओ नील आदि नाम भी याद आ रहे हैं। टामस हार्डी के 'टैस' की याद आते ही मेरी आँखे भर आती हैं। मेरे ऊपर कृति का प्रभाव पड़ता है। पर न तो उसके लेखक का नाम याद रहता है और न पुस्तक का, इसलिए और नाम भी हैं, पर इस समय याद नहीं आ रहे हैं। फिर आपके प्रश्न का उत्तर देने के लिए जितना पढ़ना चाहिए उसका सहस्रांश भी मैंने नहीं पढ़ा। वाल्मीकि, कालिदास, व्यास और तुलसी मेरे आराध्य हैं पर क्या मैं यह कह सकता हूँ कि मैंने उन्हें पढ़ा है। नहीं, मैंने किसी लेखक का अध्ययन नहीं किया। उन्हें छुआ भर है। नाम तो रोब गाँठने को गिना दिये हैं। हाँ, एक बात मैं कहूँगा कि जितना भर मैंने पढ़ा है उस सबमें मैंने एक ही मानव-आत्मा के दर्शन किये हैं।"

यहीं मैंने उनसे प्रश्न किया—"सृजन के पूर्व, सृजन के समय और सृजन के पश्चात् आपकी मनःस्थिति क्या होती है? यह भी बतलाइए कि कैसे आप लिखने का मसाला जुटाते हैं और कैसे उसे लिखते हैं?"

इस प्रश्न को सुनते ही वे बोले, "आप भी कैसे-कैसे प्रश्न

करते हैं। कोई एक-सी अवस्था तो सदा रहती नहीं, फिर भी जब कभी कोई विचार सूझ जाता है तो वह दिमाग में घूमता रहता है। कुछ कहानियों के प्लाट तो सालों घूमते रहे हैं। वैसे लिखना शुरू करने में कुछ कष्ट होता है पर जब एक पैरा लिख लेता हूँ तब फिर क्रम नहीं टूटता। प्रायः एक बैठक में कोई रचना मैं कम ही पूरी कर पाता हूँ। पर जो एक बैठक में लिखी जाती हैं वे सुन्दर होती हैं। कभी-कभी तो बहुत सुन्दर होती हैं। मेरी कहानियाँ अधिकतर (कहूँ प्रायः) सच्ची घटनाओं पर आधारित होती हैं। घर में कभी किसी ने बातचीत में किसी घटना का जिक्र किया या बाजार में कोई घटना घटी या अखबार में कोई रोमांचकारी समाचार छपा, ऐसे ही मुझे मेरी कहानियों के प्लाट मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए 'बच्चा किसका है' यह कहानी घर से स्टेशन जाते समय तांगे में ताँगे वाले की बात सुनकर लिखी थी। सफ़र ने, विशेषकर दक्षिण, काश्मीर और उत्तराखण्ड जैसी यात्राओं ने मुझे बहुत कहानियाँ दी हैं। न जाने कितने हमराहियों ने मुझे अपनी जीवन-गाथा सुनाई है। कितने ही ताँगे वालों ने मुझे प्लाट दिये हैं। यात्रा में पग-पग पर प्लाट मिल जाते हैं।

शुरू में मैं कापी में लिखता और फिर नकल करके भेजता था। इधर ७-८ साल से मैं और भी अधिक मेहनत कर रहा हूँ। यानी आराम से लिखता हूँ। रेडियो की बात और है। नकल रखने का मोह अब नहीं रहा है। स्वयं रचना से भी कोई विशेष मोह नहीं रह गया है। हाँ, लिखने के पश्चात् मुझे निश्चय ही शान्ति होती है। सन्तोष का पता नहीं।

मेरी कहानियों का उद्देश्य 'मानवता' है। 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त को मैं मानता हूँ। गांधी जी की अहिंसा

में मुझे विश्वास है। मेरी दृष्टि में मारने से अधिक मरने में वीरता है। लेकिन एक अहिंसक में हृदय और शरीर की शक्ति अवश्य होनी चाहिए। मैं मानता हूँ कि अपनी इस मान्यता को मैं अभी तक जीवन में नहीं उतार पाया पर प्रयत्न जारी हैं। इन्हीं प्रयत्नों की झलक मेरे जीवन और साहित्य में मिलती है। आदर्श मुझे प्रिय है पर 'वाद' को मैं फाँसी मानता हूँ। इसलिए मेरे साहित्य में आग नहीं है।"

"क्या आप अपनी दिनचर्या के विषय में भी कुछ कहने की कृपा करेंगे।" मैंने पूछा।

उन्होंने कहा—"क्यों नहीं ! कृपा जब करने ही लगा हूँ तो विश्वास रखो कंजूस नहीं कहलाऊँगा। मेरे जीवन में एक नियम रहा है। मामाजी का इसके लिए ऋणी हूँ। ५ बजे मैं उठ जाता हूँ और नित्य-कर्म से निवृत्त होकर घूमने चला जाता हूँ। लगभग ६-६॥ बजे घूमकर लौटता हूँ, तो डायरी और चिट्ठियाँ लिखता हूँ। उसके पश्चात् साहित्य की सेवा आरम्भ करता हूँ और साढ़े बारह-एक तक व्यस्त रहता हूँ। लगभग १½ बजे भोजन करता हूँ। तब बाहर जाता हूँ। शाम को मीटिंगें रहती हैं। पढ़ने का काम जब संभव हो रात के १०-११ बजे तक होता है। पढ़ता कम हूँ। उपन्यास कम पढ़े हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास पूरे नहीं पढ़े। कविताएँ भी कम पढ़ी हैं। मुझे संस्मरण, यात्रा-वर्णन, इतिहास और मनोविज्ञान विशेष प्रिय हैं। फिर भी मनोविज्ञान का नियमित अध्ययन कभी नहीं किया।

मेरा अगला प्रश्न था—"आपको किस कृति को लिखकर अधिक संतोष हुआ है ?"

उन्होंने एकदम तपाक से कहा—"किसी को भी नहीं, पर एक क्षण बाद बोले—"मैं जानता हूँ यह गलत है, पर फिर भी इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। ठीक उत्तर देना तो असम्भव-सा ही

है। माँ को अपने सभी बच्चे प्रिय होते हैं। पर चूँकि यह प्रश्न बहुत पूछा गया है इसलिए कुछ कृतियों के नाम याद कर लिये हैं। 'हंस' में छपी 'आश्रिता' कहानी के सम्बन्ध में श्री जैनेन्द्र ने कहा था, 'ईर्ष्या होती है इतनी सूक्ष्मता हिन्दी में तो देखने को नहीं मिलती।' 'रहमान का बेटा', 'भाई साहब', 'छाती के भीतर', 'वे दोनों', 'बच्चा किसका', 'अभाव', 'मृत्युञ्जय' 'मेरा बेटा', 'धरोहर', 'कितना झूठ' 'अधूरी कहानी', 'अमग अथाह' आदि कहानियाँ ऐसी हैं जिनसे कहा जा सकता है कि मैं संतुष्ट हूँ। इधर मैं कहानी कम, नाटक और स्केच अधिक लिख रहा हूँ। उनके साथ भी यही बात है। मैंने आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं, पर उनसे मैं कभी सन्तुष्ट नहीं हो सका। मैं अपने को आलोचक नहीं मानता, भावुक आलोचक नहीं हो सकता। हाँ, अपने उपन्यास 'ढलती रात' से मैं असन्तुष्ट नहीं हूँ। मैं यह दावा कभी नहीं करता कि मैं प्रतिभाशाली हूँ पर मुझे अपने हृदय और मस्तिष्क के विकास में विश्वास है। मेरी धारणा यह है कि ५० वर्ष तक तो लेखक का प्रयोग-काल है। उसके बाद ही उसमें परिपक्वता आती है। मेरी कला में भी ५० के बाद परिपक्वता आयगी। अभी तो मैं बालक हूँ। बालक को अपनी सभी कृतियाँ प्यारी लगती हैं।"

"कहानी की वर्तमान स्थिति और कहानी-लेखकों के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है?"

"आजकल कहानियाँ बहुत अधिक लिखी जा रही हैं पर उनमें अधिकांश निम्न कोटि की होती हैं। अधिक कहानी लिखना कहानी का अहित करना है। इसका परिणाम यह है कि सस्ती कहानी-पत्रिकाएँ इतनी बिकती हैं जितना हिन्दी का कोई पत्र नहीं बिकता। अन्य भाषा वाले इन्हीं पत्रों द्वारा हिन्दी-कहानी के स्टैंडर्ड की जाँच करते हैं। परिणाम यह होता है कि वे हिन्दी-कहानी के विषय में गलत धारणाएँ बना लेते हैं। फिर भी हिन्दी-

कहानी का स्तर ऊँचा है और अपने कई कहानीकारों पर हम गर्व कर सकते हैं। परिमाण में अधिक होने से अच्छी चीजें बहुत कम सामने आती हैं। इस दृष्टि से छँटनी की जरूरत है।"

अब मैंने उनसे एकांकी नाटक के सम्बन्ध में प्रश्न करने चाहे। कारण, एकांकी-नाटककारों में विष्णुजी का नाम गौरव के साथ लिया जाता है। विशेषकर रेडियो-नाटक के क्षेत्र में उनकी काफी ख्याति है। रेडियो-टैकनीक को समझने वाले कुछ इने-गिने लेखकों में उनकी गिनती है। इधर उनके बड़े नाटक भी बाजार में आये हैं। इस सम्बन्ध में मैंने उनसे पूछा—"कहानी से आप एकांकी के क्षेत्र में कैसे आ गए?"

उन्होंने कहा—"इसकी भी एक अपनी ही कहानी है। एक बार बातचीत चलने पर श्री प्रभाकर माचवे ने कहा था कि मेरी कहानियों में संवाद अधिक और अच्छे होते हैं। यदि मैं नाटक लिखूँ तो अधिक सफलता मिल सकती है। तभी 'हंस' का 'एकांकी-नाटक-अंक' निकला। उससे प्रभावित होकर सन् '३६ में मैंने अपना पहला नाटक 'हत्या के बाद' लिखा। 'विशाल भारत' से लौटकर बाद में वह 'हंस' में छपा। 'साहित्य-सन्देश' ने उसे उस मास का सबसे अच्छा एकांकी ठहराया। तभी मुझे यह ज्ञात हुआ कि यदि किसी पत्र से कोई रचना लौट आती है तो इससे हताश होकर उसे निम्न कोटि की न समझ लेना चाहिए मेरा दूसरा एकांकी 'माँ बाप' था। वह वर्षों से कोर्स में चल रहा है। वह सबसे पहले 'वीणा' के 'एकांकी-नाटक-अंक' में छपा था। मेरी दृष्टि में यह बढ़िया चीज नहीं है। गम्भीरता से एकांकी लिखना मैंने सन् '४८ से शुरू किया। जब मैं रेडियो के सम्पर्क में आया और अपने लिखे नाटकों को सुना तब मैंने अपनी कला को माँजा। मुझे इस बात का अनुभव हुआ कि जब तक बर्नार्ड शॉ की भाँति स्वयं रंगमंच बनाकर नाटक न लिखे जायँगे तब

तक हिन्दी-नाटक और रंगमंच की उन्नति नहीं होगी। पृथ्वीराज कपूर ने इस विषय में एक आदर्श उपस्थित किया है पर वे स्वयं लेखक नहीं हैं। इधर मैं इस ओर ध्यान देने की बात सोच रहा हूँ। अभी तो मेरा संसार रेडियो तक ही सीमित है। मैं अभी अपने को सफल नाटककार नहीं मानता।"

"पर अच्छे एकांकी में आपकी दृष्टि से क्या गुण होने चाहिए? यह तो आप बता ही सकेंगे?" मैंने पूछा।

"नाट्य-कला सबसे सशक्त सामाजिक कला है। वह मात्र श्रव्य ही नहीं दृश्य काव्य भी है। इसलिए सबसे पहले उसे अभिनय के योग्य होना चाहिए और उसकी कथावस्तु ऐसी होनी चाहिए जो जन-मन का मनोरंजन तो करे ही उसका उद्धार भी करे। एकांकी में संकलन-त्रय का होना आवश्यक है। जहाँ तक संभव हो उसमें दूसरी बार पर्दा न उठाना पड़े। कम-से-कम एक सैट से काम चल सके तो अच्छा है। 'संवाद' एकांकी के प्राण हैं; इस दृष्टि से बहुत कम लेखकों ने सफल नाटक लिखे हैं। यह उनका दोष नहीं है। रंगमंच के अभाव के कारण है। यों डॉ० रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, अश्क, उदयशंकर भट्ट आदि सब अपने-अपने स्थान पर उल्लेखनीय हैं। डॉ० वर्मा तो सबसे आगे माने जाते हैं। गीति-नाट्य की देन के लिए भट्टजी का महत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा। 'मेघदूत', 'एकला चलो रे' आदि उनके कुछ सफल रेडियो-रूपक हैं। इधर कविवर पन्त के गीति-नाट्य भी आकाशवाणी से प्रसारित हुए हैं। अश्क के नाटक रंगमंच की दृष्टि से काफी सफल होते हैं। जगदीशचन्द्र शिल्पकार हैं। इधर वे रंगमंच के उत्थान के लिए प्रयत्नशील हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र, अमृतलाल नागर, भारतभूषण, भगवतीचरण वर्मा, हरिश्चन्द्र खन्ना आदि ने रेडियो को कुछ सुन्दर कृतियाँ दी हैं। और नाम भी हैं, पर कुल मिलाकर अभी हम अपने नाट्य-साहित्य पर गर्व नहीं कर सकते।"

"क्या साहित्य-सृजन से कभी आपका जी भी ऊबा है ? यदि हाँ तो उसके कारण क्या-क्या रहे हैं ?" मैंने उनसे तुरन्त ही प्रश्न किया ?

उन्होंने कहा–"साहित्य से जी ऊबने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके पक्ष में मैंने पन्द्रह वर्ष की सरकारी नौकरी छोड़ी है। हाँ, कभी-कभी ऐसा लगता है कि मेरी रचनाओं का सही मूल्यांकन नहीं हुआ है। मुझे कुछ आलोचक साहित्यिक ही नहीं मानते। सच पूछो तो मैं हूँ भी नहीं, पर जब-तब मन को कुछ पीड़ा होती है। इन्सान जो हूँ, पर कुछ भी हो यह निश्चित रूप से मेरी दुर्बलता है। हाँ, इस दुर्बलता ने आगे बढ़ते जाने की उमंग को कभी कम नहीं किया। मैं भावनाशील व्यक्ति हूँ। इसलिए मन की चीज लिखने से सन्तोष होता है। हाँ, रेडियो के लिए बार-बार आर्डर की चीज लिखने से अक्सर दुःख होता है पर वह पेट का प्रश्न है। इस संघर्ष की अपनी कहानी है। और साहित्यिक बनने का मेरा दावा नहीं है पर साहित्य की सेवा करने की साध अवश्य है। यह मैं अभिमान से नहीं कहता, मन की बात बताता हूँ।"

"ठीक है, पर हाँ क्या आपकी दृष्टि में साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है ?" मैंने अगला प्रश्न किया।

उनका उत्तर था–"६ वर्ष से मैं साहित्य के सहारे ही जी रहा हूँ। मेरा विचार है कि यदि सम्पादक और प्रकाशक ईमानदारी बरतें, तो काम चल सकता है। पर जमे हुए लेखक का, नये का नहीं। दो-तीन साल बड़ा संकट रहा। इधर तीन साल से जीने के लिए आवश्यकता जितना मिल जाता है। रेडियो से बड़ी सहायता मिली है। कल क्या होगा इसकी विशेष चिन्ता नहीं है। आज गाड़ी चल रही है। हाँ, नए लेखकों को दस बार सोचकर इस गली में कदम रखना चाहिए। कहीं भी कटौती और छँटनी क्यों न हो, उसका सबसे पहला प्रभाव इसी गली पर पड़ता है। अभी

यह साधना का क्षेत्र है पर मैं मानता हूँ कि साधना पेट की दुश्मन नहीं है।"

मैंने उनकी इस बात में उनके अनुभव की झलक पाई। यद्यपि वे खुले नहीं पर उनकी अवस्था शब्दों से अधिक मेरे प्रश्न का समाधान कर रही थी। मैंने कमरे में इधर-उधर देखकर पूछा—"अच्छा यह बताइए, आपकी हॉबीज क्या हैं? विशेष रुचि यानी भोजन-वस्त्रादि के बारे में क्या आपकी कुछ विशेष रुचियाँ हैं।"

वे मुस्कराकर बोले—"बड़ी देर बाद आपने मन का प्रश्न पूछा, यों तो यह सब लम्बी कहानी है। न जाने कितनी हॉबियाँ साधनों के अभाव में घुटकर मर गईं और साहित्य की हॉबी तो अब पेशा बन गई है। घूमने का शौक भी आज तक बना है। देश काफी देखा, रामेश्वर से श्रीनगर तक, पर जितना बाकी है उसके मुकाबिले में वह कितना तुच्छ है। पैदल यात्रा का बड़ा शौक है। बद्री-केदार पैदल घूम आया हूँ। राजस्थान भी गया हूँ। विदेश जाने की साध है। कभी-कभी तो पैदल निकल भागने को जी करता है, पर क्या बताऊँ पंखों में पत्थर बँधे हैं।

और टिकट-सिक्के आदि इकट्ठा करना भी समय-समय पर मुझे प्रिय रहा है। मेरे पास टिकटों का काफी जखीरा है, पर अब तो वह सब मैंने अपनी भतीजी को सौंप दिया। सिक्कों की क्या कहूँ? एक बार मेरे एक प्रिय घर से जो भागे तो चाँदी के रुपयों के साथ मेरे पुराने सिक्के भी ले गए। भागने का मुझे दुःख नहीं था, क्योंकि मैं भी भाग चुका हूँ, पर वे हजरत सिक्के बेच आए। इसका दुःख है।"

मैं अचानक बोल उठा—"आप भी भागे थे, कैसे और क्यों?"

विष्णुजी हँस पड़े—"कैसे और क्यों का जवाब तो अभी नहीं दूँगा। कुछ तो अपने दिल में रोकने का भी मेरा हक है। यों एक

मजेदार बात याद है भागकर जब दिल्ली आया तो सामान के नाम पास एक तिनका तक नहीं था। सन् '३१ का जमाना और रात का वक्त था। जिस धर्मशाला में गया वहीं से निकाल दिया गया। कोई ठग बताता तो कोई क्रांतिकारी। नवयुवक था, स्वस्थ था इसलिए अधिकतर ने बम-पार्टी का सदस्य समझा। सड़क पर पुलिस ने नहीं लेटने दिया। क्रांतिकारी कोई मिला नहीं। सो स्टेशन लौटा, पंजाब जाने वाली गाड़ी सीटी दे रही थी बस उसी में चढ़ गया। सबेरे जो आँख खुली तो अपने शहर में था। आज कभी-कभी सोचता हूँ काश कि उस रात वह गाड़ी न मिलती। पर जाने भी दो। जो न हुआ उसकी चर्चा क्या ? यों मैं मानता हूँ, भागना बुरा नहीं कुछ लाभदायक ही है। और हाँ, संसार-भर के लेखनी मित्रों (Pen friends)से पत्र-व्यवहार भी बहुत किया है। वह रोचक पत्र मेरे पास आज भी रखे हैं। कपड़ों की क्या बात कहूँ। बचपन से खद्दर चिपटा तो आज तक चिपटा है। अब यह उतरने वाला नहीं है। इन तीन-चार वर्षों में इतनी गालियाँ खाई हैं, धक्के सहे हैं, लोगों ने थूका तक है कि अब यह उतारने पर भी न उतरेगा।

रही भोजन की बात। सो भाई, जन्म से ब्राह्मण न सही पर खीर मुझे बड़ी प्रिय है। खाना ही नहीं, बनाना भी। भोजन बहुत बनाया है पर दूसरी ओर यह बात है कि शायद ही कभी घर वालों से कहा हो कि मैं आज अमुक चीज खाऊँगा। वे लोग तो मुझसे नमक-मिर्च की कमी-ज्यादती के बारे में भी नहीं पूछते। हाँ, इधर स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण मैं भोजन के बारे में सोचने लगा हूँ। मेरे साथ भोजन करेंगे तो आप स्वयं देख लेंगे।

मैं हँस पड़ा और मैंने उनकी बात समझकर अन्तिम प्रश्न किया—"आपका जीवन और साहित्य के प्रति क्या दृष्टिकोण है ?"

इस प्रश्न का संक्षिप्त सा उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"वाद

के रूप में कोई वस्तु नहीं मानता। हाँ, जैसा कि मैं कह चुका हूँ गांधीजी की अहिंसा में मेरा विश्वास अवश्य है। घृणा और हिंसा मुझे पसन्द नहीं हैं। पूँजीवाद में भी मुझे रत्ती-भर विश्वास नहीं है। गलत या ठीक, मैं मूलतः मानवतावादी हूँ। मैं आकाश के तारों से प्रेम करता हूँ पर साथ ही यह भी मानता हूँ कि धरती भी एक चमकदार तारा है। इसलिए मैं यथार्थ से कभी अलग नहीं होता पर घटित में सुन्दर और शुभ लेने की ही मेरी आदत है। यदि अशुभ लेता भी हूँ तो शुभ की पुष्टि के लिए ही लेता हूँ। एक वर्ग-हीन अहिंसक समाज में मेरा दृढ़ विश्वास है। जीवन और साहित्य, यदि उन्हें अलग मानें तो, दोनों क्षेत्रों में मेरा यही लक्ष्य है। बारीकियों में उलझना अच्छा नहीं लगता।"

यहीं बातचीत समाप्त हो गई और हम लोगों ने साथ-साथ भोजन किया। जैसा उन्होंने कहा था विष्णु जी भोजन में भी बड़े सात्विक और मिताहारी हैं। यदि मैंने उन्हें गलत नहीं समझा तो वे गांधीवाद के मूल तत्त्वों को अपने जीवन औ साहित्य में उतारने वाले एकनिष्ठ तरुण साहित्यकार हैं, जिनमें आत्मविश्वास और परिश्रम दोनों ही तत्त्व पूर्णतया समाविष्ट हैं। मानवता में उनकी अगाध श्रद्धा देखकर मुझे यह कहते संकोच नहीं है कि यह कलाकार हिन्दी को गौरवान्वित करने में कुछ उठा न रखेगा।

जून १९५२]

परिशिष्ट

हिन्दी के जिन साहित्य-स्रष्टाओं के इण्टरव्यू इस किस्त में हैं उनकी पुस्तकों की सूची काल-क्रम से इस परिशिष्ट में दी गई है। यह सूची स्वयं लेखकों द्वारा तैयार की गई है, अतएव इससे अधिक प्रामाणिक सूची और दूसरी नहीं हो सकती। अनुसन्धान-कर्ताओं के लिए यह सूची नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रकाशित

जीवन-चरित्र

१. नेपोलियन बोनापार्ट	१६११
२. प्रिंस बिस्मार्क	१६१३
३. गेरीबाल्डी	१६२१
४. पं० जवाहरलाल नेहरू	१६३५
५. महर्षि दयानन्द	१६४५

संस्मरण

१. जीवन की झाँकियाँ (तीन खण्ड)	१६४६
२. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति	१६५२

ऐतिहासिक

१. मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण	१६२८

राजनीतिक

१. राष्ट्रों की उन्नति	१६१३
२. राष्ट्रीयता का मूल मंत्र	१६१४
३. जीवन-संग्राम	१६३६
४. स्वतंत्र भारत की रूपरेखा	१६४७

साहित्यिक

१. उपनिषदों की भूमिका	१६१३
२. संस्कृत-साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन	१६१५
३. सम्राट् रघु	१६५०

नाटक

१. स्वर्ण देश का उद्धार	१६२१

उपन्यास

१. शाह आलम की आँखें	१६१६

२. अपराधी कौन १९३२
३. सरला की भाभी १९४१
४. सरला १९४४
५. जमींदार १९४६
६. आत्म बलिदान १९४१

अप्रकाशित

१. मेरे पिता (अपने पूज्य पिता स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में मेरे संस्मरण)
२. अर्जुन की घोर तपस्या (महाकवि भारवि के महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' का भावानुवाद प्रस्तावना-सहित)
३. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त। (तीन भाग, जिनमें से प्रथम लिखा जा चुका है और १००० पृष्ठ का है।)

श्री रायकृष्णदास

प्रकाशित

गद्यकाव्य

१. साधना १९१६
२. प्रवाल १९२२
३. छाया पथ १९२२

कविता

१. ब्रज-रज १९३६

कहानी

१. अनाख्या १९२०
२. सुधांशु (१९२२ से २७ तक की कहानियाँ) १९२८
३. आँखों की थाह १९४१

अनुवाद

१. पगला — १६२३

कला

१. भारतीय चित्र-कला — १६४०
२. भारतीय मूर्ति-कला — १६४०

सम्पादन

१. 'रामचरितमानस' के सभा वाले संस्करण में सहायता ('४२ से '४४ तक)
२. नीरजा (महादेवी), तुलसीदास (निराला) आदि ग्रन्थों की मार्मिक भूमिकाएँ ।

अप्रकाशित

१. प्रसाद की याद (संस्मरण)
२. भारतीय चित्र-चर्चा (कला-सम्बन्धी बड़ा ग्रंथ)
३. राम-कथा (ऐतिहासिक आख्यान)
४. महाभारत युग का इतिहास (दो भाग)
५. महामना अकबर (सांस्कृतिक इतिहास)
६. भारतीय संगीत का इतिहास

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

प्रकाशित

कविता

१. कुङ्कुम — १६३६
२. अपलक — १६५२
३. रश्मि-रेखा — १६५२
४. क्वासि — १६५२

अप्रकाशित

१. विस्मृता उर्मिला (महाकाव्य)
२. कई गीत-संग्रह

श्री जैनेन्द्रकुमार

उपन्यास

१. परख	१९३०
२. सुनीता	१९३४
३. त्याग-पत्र	१९३६
४. कल्याणी	१९३७
५. सुखदा	१९५२
६. विवर्त	१९५२

कहानी-संग्रह

१. फाँसी	१९२९
२. वातायान	१९३०
३. नीलम देश की राज-कन्या	१९३३
४. एक रात	१९३२
५. दो चिड़ियाँ	१९३५
६. पाजेब	१९४८
७. जय-संधि	१९४९

निबंध-संग्रह

१. जैनेन्द्र के विचार	१९३४
२. जड़ की बात	१९४५
३. पूर्वोदय	१९५१

प्रश्नोत्तर

१. प्रस्तुत प्रश्न	१९३६
२. प्रेम, परिवार और समाज (प्रेस में)	१९५२

अनुवाद

१. प्रेम में भगवान् (टालसटाय) १६३४
२. मगदालिनी (मैत्रिलिंक) १६२८-१६३५
३. यामा (कुप्रिन) (अप्रकाशित)

श्री यशपाल

प्रकाशित

कहानी

१. पिंजरे की उड़ान	१६३६
२. वो दुनियाँ	१६४२
३. तर्क का तूफ़ान	१६४३
४. अभिशप्त	१६४४
५. ज्ञान-दान	१६४४
६. भस्मावृत चिनगारी	१६४६
७. फूलों का कुर्ता	१६४६
८. पक्का कदम	१६४६
९. धर्मयुद्ध	१६५०
१०. उत्तराधिकारी	१६५१
११. चित्र का शीर्षक	१६५२

उपन्यास

१. दादा कामरेड	१६४१
२. देश-द्रोही	१६४३
३. दिव्या	१६४५
४. पार्टी कामरेड	१६४७
५. मनुष्य के रूप	१६४६

राजनीतिक

१. न्याय का संघर्ष	१६३६

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया

प्रकाशित

२. मनुहार १६४७
३. सारंग १६५०
४. परिछाया १६५१

अप्रकाशित

१. उपन्यास
२. गद्य-काव्य
३. कुछ कविताएँ

डॉक्टर नगेन्द्र

प्रकाशित

आलोचना

१. सुमित्रानन्दन पन्त १६३८
२. साकेत: एक अध्ययन १६४०
३. आधुनिक हिन्दी नाटक १६४१
४. विचार और अनुभूति १६४४
५. रीति-काव्य की भूमिका १६५०
६. देव और उनकी कविता १६५०
७. विचार और विवेचन १६५०
८. आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ १६५२

कविता

१. वनबाला १६३७
२. छन्दमयी १६५०

सम्पादन

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य (भाग २) १६४३
२. सियारामशरण गुप्त १६५०
३. हिन्दी-ध्वन्यालोक १६५२

अप्रकाशित

१. रीति-पथ
२. आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

प्रकाशित

कविता

१.	मधूलिका	१६३८
२.	अपराजिता	१६३६
३.	किरण-वेला	१६४१
४.	करील	१६४२
५.	लाल चूनर	१६४४

कहानी

१.	तारे	१६३८
२.	ये, वे, बहुतेरे	१६४

उपन्यास

१.	चढ़ती धूप	१६४५
२.	उल्का	१६४७
३.	नई इमारत	१६४७
४.	मरु प्रदीप	१६५१

निबन्ध

१.	समाज और साहित्य	१६४४

इतिहास

१.	हिन्दी-साहित्य-परिचय	१६५१
२.	हिन्दी-साहित्य-अनुशीलन	१६५१

सम्पादन

१.	काव्य-संग्रह (भाग २)	१६५१

अप्रकाशित

१. आत्मा की लाश (उपन्यास)
२. वर्षान्त के बादल (कविता-संग्रह)
३. स्वाती (कविता-संग्रह)
४. रेखा-लेखा (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)
५. शान्ति-पर्व (खण्ड-काव्य)
६. कथा-कौमुदी (सम्पादित कहानी-संग्रह)

श्री प्रभाकर माचवे

प्रकाशित

कविता

१. तार सप्तक (अन्य कवियों के साथ भाग १) १९४३

कहानी

१. संगीनों का साया १९४२

उपन्यास

१. परन्तु १९५१
२. एकतारा १९५२

निबन्ध

१. खरगोश के सींग १९५०
२. व्यक्ति और वाङ्मय १९५२
३. समीक्षा की समीक्षा १९५२
४. आधुनिक हिन्दी कहानी और कला-समीक्षा के कुछ प्रश्न (आधुनिक हिन्दी साहित्य भाग १ और २ में प्रकाशित), मार्क्सवाद और सौंदर्य-शास्त्र ('सम्मेलन-निबन्धावली' और 'सिद्धान्त और समीक्षा' में प्रकाशित), सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, सिया-रामशरण गुप्त आदि ग्रन्थों तथा प्रेमी, नेहरू, राजेन्द्र-

प्रसाद, श्रीकृष्ण सिन्हा, सम्पूर्णानन्द आदि अभिनन्दन-ग्रंथों में विशेष लेख।

अनुवाद

१. क्या हम भूखों मरें ? (अंग्रेजी से) १९४६
२. उल्का (उपन्यास मराठी से) १९५२

सम्पादन

१. जैनेन्द्र के विचार १९३८
२. प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ
   का मराठी-गुजराती-विभाग १९३९
३. भारतीय संस्कृति (त्रैमासिक) १९४७
४. शासन-शब्द-कोष (१६००० शब्द) १९४८
५. अरमानों की चिता, प्रभंजन, जीवन-ज्वाला, धरती की आँखें, मालव-गद्य-माधुरी, पराग, त्याग-पत्र (*मराठी*), नवधा की भूमिकाएँ आदि

मराठी में

१. मालविका (कविताएं) १९३७
२. चरित्र, आत्म-चरित्र और टीका
   (आलोचनात्मक निबन्ध) १९३९

अप्रकाशित

१. प्रभा (कविताएं)
२. विसंगति (कहानियां)
३. नाटक का नाटक (प्रहसन-संग्रह)
४. आत्मा के मंच पर (एकांकी-संग्रह)
५. कला और लोक-संस्कृति
६. दर्शन-शब्द-कोष (९००० शब्द)
७. तीन निबन्ध-संग्रह

श्री विष्णु प्रभाकर

प्रकाशित

कहानी

१. आदि और अन्त	१९५५
२. रहमान का बेटा	१९४७
३. जीवन-पराग	१९५१
४. जिन्दगी के थपेड़	१९५२
५. मैं जिन्दा रहूँगा	१९५२

उपन्यास

१. ढलती रात	१९५१
२. आठवाँ कदम	१९५२

नाटक

१. नव प्रभात (अशोककालीन)	१९५१
२. समाधि (यशोवर्धनकालीन)	१९५२
३. चन्द्रहार ('गबन' का रूपान्तर)	१९५२

एकांकी

१. इन्सान	१९५०
२. माँ का बेटा	१९५०
३. हमारा स्वाधीनता-संग्राम	१९५०
४. क्या वह दोषी था ?	१९५१

सम्पादन

१. रामनाम की महिमा } गांधी जी के लेख	१९५०
२. मेरे समकालीन } गांधी जी के लेख	१९५१
३. समदर्शी (कहानी-संग्रह)	१९५१
४. रीढ़ की हड्डी (एकांकी-संग्रह)	१९५१
५. सरकारी नौकरी (एकांकी-संग्रह)	१९५२
६. एकांकी : [illegible] (एकांकी-संग्रह)	१९५२